पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

फ्रैंक थिली

सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

(प्रामाणिक अनुवाद)

मूललेखक

फ्रैंक थिली

अनुवादक

मधुकर

सेन्ट्रल बुक डिपो

इलाहाबाद

प्रथम प्रकाशित, जुलाई १९५४

बेलवेडियर प्रेस द्वारा इलाहाबाद में मुद्रित

अनुवादकीय

पाठकों के सामने फ्रैंक थिली की विश्व विख्यात पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' के आधुनिक दर्शन सम्बन्धी भाग का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने में मुझे गर्व हो रहा है।

विज्ञान और दर्शन सम्बन्धी पुस्तकों का हिन्दी रूपान्तर करना कठिन होता है क्योंकि मूल पुस्तक के भावों की सही अभिव्यंजना करने के लिए हिन्दी में शब्द नहीं मिलते।

शब्दों के अभाव को दूर करने के लिए हिन्दी में जो शब्द गढ़े जा रहे हैं वे भाषा के माथे पर कलंक का टीका ही बन सकते हैं, सौभाग्य का चिन्ह नहीं। रूपान्तर करने में मैंने भारतीय दर्शन में प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग कर वाक्यों के प्रसंग में उनको विशिष्ट अर्थ देने का प्रयत्न किया है जिससे मूल भावों की प्रामाणिक अभिव्यंजना भी हो सकें और भाषा में कृत्रिमता भी न आने पाए।

विद्यार्थियों से मेरा विशेष अनुरोध है कि वे भाषा और भावों को ठीक से हृदयंगम करने के लिए पुस्तक को कई बार पढ़ें। पहली बार पढ़ने पर विषय में जो कठिनता लग सकती है वह दूसरी बार पढ़ने पर नहीं लगेगी।

विषयकी

१

आधुनिक दर्शन की स्पिरिट

नए युग की विशेषताएँ

नए युग का इतिहास चिंतन की जागरूकता और आलोचनात्मक प्रगति का परिणाम है। इस युग में हमें परम्परा और प्रभुता के प्रति विरोध, समष्टि-वाद (collectivism) और निरंकुशतावाद (absolutism) में अनास्था मिलती है। नया युग विचार, अनुभूति और कर्म में स्वतन्त्रता की माँग है। पुनरुत्थान (Renaissance) और सुधारण काल (Reformation) की संक्रान्ति (transition) में जिस 'चाशनी' ने काम किया था वह आगामी सदियों में भी क्रियाशील रही और अब तक है। राजनैतिक उथल-पुथल राज्य (State) को जन्म देकर शान्त हो गई। राज्य ने धीरे-धीरे चर्च (धार्मिक संस्था) का स्थान ले लिया जो अब तक सभ्यता का उपकरण था। चर्च से लगाव (Ecclesiasticism) की जगह राष्ट्रीयतावाद (Nation-alism) ने ले ली। राज्य (State) के अन्दर से ही वैधानिक (constitu-tionalism) और जनतंत्रवादी (democratic) संस्थाओं की बढ़ती हुई प्रवृत्ति पाई जाने लगी जो आज तक जीवित है। समानाधिकार और सामाजिक न्याय हरेक देश की माँग थी। स्वतन्त्रता की जिस स्पिरिट ने चर्च के विरुद्ध आवाज उठाई थी उसी स्पिरिट ने राज्य की पैतृकवादिता (paternalism) का भी विरोध किया और राजनैतिक निर्हस्तक्षेप का सिद्धान्त व्यक्तिवादी (individualist) का आदर्श बन गया। इसी स्पिरिट ने आर्थिक क्षेत्र में भी अभिव्यक्ति पाई। गुलामी, अर्धदासता (ser-fdom) और प्राचीन शिल्पि संघ (guild) की पद्धति मिट गई। मनुष्य ने अपनी बेड़ियाँ तोड़ डालीं और उसने अपनी आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए पराधीनता को अस्वीकार कर दिया।

इन सब घटनाओं का प्रतिविम्ब हमें चिंतन क्षेत्र में भी मिलता है। स्वतन्त्रता की माँग और मातहती के प्रति विरोध चिंतन क्षेत्र में भी मिलता है। विज्ञान और दर्शन में तर्क की ही प्रभुता है। जैसा कि हम पहले बता

चुके हैं, अब यह धारणा बनने लगी कि सत्य की प्राप्ति प्रभुता या पोप के आदेशों की अपेक्षित नहीं है किन्तु एक ऐसी वस्तु है जो स्वतंत्र और तटस्थ खोज़ से प्राप्त की जा सकती है । अब दृष्टि आधिदैविक बातों की ओर से हटकर आधिभौतिक बातों की ओर लग गई, आकाश से धरती पर उतर आई। ईश्वरवाद (Theology) के स्थान पर विज्ञान और दर्शन की प्रतिष्ठा हुई। क्या शारीरिक और मानसिक जगत्, क्या समाज और मानवीय संस्थाएँ और क्या धर्म सबकी व्याख्या प्राकृतिक नियमों के आधार पर होने लगी। मध्ययुग के बाद इस युग के उच्च बौद्धिक स्तर की मुख्य विशेषता मानवीय बुद्धि में अटल आस्था है। इस युग में प्राकृतिक चीजों के प्रति असीम आकर्षण और सभ्यता और विकास की एक जीवित अभिलाषा मिलती ह। यह विचारणीय है कि अब ज्ञान का आदर और उसकी इच्छा ज्ञान के लिए नहीं की जाती किन्तु उसकी उपादेयता और व्यावहारिक मूल्य के लिए की जाती है। ज्ञान ही शक्ति है। फ्रांसिस बेकन के बाद के आधुनिक दर्शन के सभी अगुआ विज्ञानीय खोजों के नतीजों के व्यवहारानुगुण होने में रुचि लेते हैं और आशावादी दृष्टि से एक ऐसे आगामी युग का दर्शन करते हैं जिसमें मशीन का कौशल, कारखानों, औषधि आदि में ही नहीं किंतु राजनीति और सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक कार्य हो सकेंगे।

इसी प्रकार व्यक्ति ने भी धर्म और नैतिक बातों में चर्च के आधिपत्य को ठुकरा दिया। विश्वास और आचार में जो स्थान आस्था (faith) और सदसद्विवेक (conscience) का था बौद्धिक क्षेत्र में वही स्थान तर्क और बुद्धि का हो गया। मनुष्य ने अपने और ईश्वर के बीच किसी मध्यस्थता को स्वीकार नहीं किया। लूथर चाहे जिस प्रकार पुनरुत्थान काल (Renaissance) के नेताओं से मतभेद रखता रहा हो, सुधारण काल (Reformation) के प्रभाव ने धार्मिक, नैतिक और बौद्धिक स्वतंत्रता को धीरे-धीरे गति दी और इस तरह मानवी आत्मा को वाह्य प्रभुता से मुक्त करा सकने में अपना पूरा योग दिया।

हमने नए युग की जिन विशेषताओं को बताया है उनका प्रतिबिम्ब आधुनिक दर्शन के प्रारम्भिक काल में स्पष्ट है। आधुनिक दर्शन सत्य की खोज स्वतन्त्र रूप से करता है और इस बात में वह प्राचीन यूनानी विचार-धारा से समता रखता है। आधुनिक दर्शन ज्ञान की खोज में बुद्धि को ही प्रधानता देने के अर्थ में बुद्धिवादी (rationalistic) है और आन्तरिक और वाह्य प्रकृति की व्याख्या करने के लिए आधिदैविक मान्यताओं को

स्वीकार नहीं करने के अर्थ में प्रकृतिवादी (naturalistic) है। नए विज्ञान, विशेषकर भौतिक विज्ञान, की अपेक्षा रखने से आधुनिक दर्शन विज्ञानीय है।

यह याद रखने की बात है कि यद्यपि आधुनिक दर्शन का उदय पुराने शास्त्रीय (scholastic) दर्शन के विरुद्ध प्रतिक्रिया से हुआ किंतु वह अपने प्राचीन काल से सर्वथा अलग नहीं हो सका। शास्त्रीय (scholastic) दर्शन की छाप आधुनिक दर्शन पर उसके विकास क्रम के बहुत समय तक देखी जा सकती है। नए काल के प्रारम्भिक विचारक शास्त्रीय प्रणाली (scholastic method) की आलोचना तो लगातार करते हैं किंतु उन्होंने बहुत सी पुरानी धारणाएँ ज्यों की त्यों अपना ली हैं जिनका प्रभाव उनकी समस्याओं और परिणामों पर स्पष्ट है। ईश्वरवादी पक्षपात (theological bias) भी पूर्ण रूप से अनुपस्थित नहीं है। बेकन, देकार्त, लाक, बार्कले और लाइबनित्स इन सबने ईसाईमत के मूल सिद्धान्तों को अपनाया है। यह सच है कि हम कभी-कभी उनके विरोधों की सच्चाई का निर्णय नहीं कर पाते किन्तु इस मामले में अतत्परता भी ईश्वरवादी (theological) प्रभाव का सबूत होगी।

बुद्धिवाद और अनुभववाद

आधुनिक विचारधाराएँ या तो बुद्धिवादी (rationalistic) या अनुभववादी (empiristic) हैं। बुद्धिवादी विचारधाराएँ ज्ञान का उद्गम तथा आदर्श बुद्धि को मानती हैं और अनुभववादी अनुभव को। गलतफहमियों से बचने के लिए हमें पहले कुछ बातों को समझ लेना चाहिए। (१) बुद्धिवाद से तात्पर्य उस प्रवृत्ति से है जो ज्ञान का मापदण्ड प्रभुता या श्रुति (revelation) की जगह बुद्धि को मानती है। इस अर्थ में आधुनिक काल की सभी विचारधाराएँ बुद्धिवादी हैं। वस्तुतः हम इसी विशेषता के बल पर उन्हें आधुनिक कह सकते हैं। जगत विषयक ऐसे दृष्टिकोणों की भी कमी नहीं है जो सत्य के उद्गम की खोज बुद्धि में न कर अनुभव (feeling), आस्था (faith) या अन्तर्साक्षिता (intuition) में करते हैं। किन्तु ये विचारधाराएँ भी ऐसी धाराणाएँ बनाने का प्रयत्न करती हैं जो उनके सत्य तक पहुँचने के तरीकों और आस्था के विषयों को बुद्धि द्वारा तर्कसंगत बना सकें। (२) बुद्धिवाद से हम यह भी समझ सकते हैं कि वास्तविक ज्ञान सार्वभौम (universal) और आवश्यक निर्णयों (judgments) से ही बनता है। चिंतन का लक्ष्य सत्य का ऐसा

ढाँचा है जिसमें विभिन्न प्रस्तावनाएँ (propositions) एक दूसरे से तर्क-संगत रूप से सम्बन्धित होती हैं। ज्ञान का यह दृष्टिकोण गणितात्मक (mathematical) है। इस दृष्टिकोण को लगभग सभी नए विचारकों ने आदर्श बनाकर अपनाया है चाहे वे इसको पा सकने की सम्भावना में विश्वास करते हों या न करते हों। वे उसी ज्ञान को वास्तविक मानते हैं जो गणितात्मक आदर्श के अनुरूप हो। (२) ज्ञान के उत्पन्न होने का प्रश्न भी उठाया गया है। आधुनिक दर्शन में इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिए गए हैं। (अ) वास्तविक ज्ञान अनुभव या इन्द्रिय प्रत्यक्ष (sense-perception) से नहीं हो सकता; उसका मूल तर्क या बुद्धि में ही होना चाहिए : कुछ ऐसे सत्य हैं जो बुद्धि के लिए प्राकृतिक हैं, जन्मजात (innate) हैं और प्रागनुभव (a priori) हैं। मनस् से उत्पन्न होने वाले सत्य ही ठीक हैं। इस दृष्टिकोण को भी बुद्धिवाद कहा गया है यद्यपि कुछ लेखक इसे अन्तर्साक्ष्यवाद (intuitionalism) या प्रागनुभवतावाद (a pri-orism) ही कहना पसन्द करते हैं। (ब) सत्य जन्मजात नहीं होते; सारा ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष या अनुभव से उत्पन्न होता है। इसलिए तथा-कथित आवश्यक प्रस्तावनाएँ (propositions) न तो आवश्यक होती हैं और न ही निरपेक्ष रूप से ठीक, वे केवल उपपद्य (probable) ज्ञान देती हैं। इस दृष्टिकोण को अनुभववाद (empiricism) या इन्द्रियानुभूतिवाद (sensationalism) कहा गया है।

अनुभववादी पहले और दूसरे अर्थ में बुद्धिवाद को स्वीकार कर सकते हैं। वे उस ज्ञान को वास्तविक मान सकते हैं जो हमें निरपेक्ष निश्चितता दे और साथ ही वे शायद गणित को छोड़कर सच्चे ज्ञान को पाने की संभावना से इनकार भी कर सकते हैं। यदि अनुभववाद का यह अर्थ है कि हमारे अनुभव की दुनियाँ ही दर्शन का विषय है और दर्शन को उसी की व्याख्या करनी चाहिए तब तो पूरा आधुनिक दर्शन ही अनुभववादी है। यदि अनुभववाद से हम यह समझें कि हम बिना अनुभव के कुछ नहीं जान सकते या इन्द्रिय प्रत्यक्ष (sense perception) से सर्वथा अलग शुद्ध बुद्धि नहीं हो सकती तो भी आधुनिक दर्शन बहुत हद तक अनुभववादी है।

इस सबको ध्यान में रखते हुए हम दार्शनिकों को उनके ज्ञान के उत्पन्न होने के उत्तर के अनुसार ही बुद्धिवादी (प्रागनुभववादी) या अनुभव-वादी (इन्द्रियानुभूतिवादी) कह सकते हैं। वे ज्ञान के सही या निश्चित होने के प्रश्न का उत्तर अपने इन्हीं उत्तरों से सम्बन्धित करते हैं। प्रारम्भिक आधु-निक काल के दोनों स्कूल इससे सहमत हैं कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान

सर्वथा निश्चित नहीं होता। बुद्धिवादियों के मत से केवल बौद्धिक प्रागनुभव सत्य ही, जिनका प्रत्यक्ष होता है, निश्चित होते हैं। अनुभववादी सामान्यतः ऐसे प्रागनुभव सत्यों से इनकार करते हैं और यह मानते हैं कि स्पष्टतया प्रत्यक्ष सत्य आवश्यक रूप से निश्चित नहीं होते। इस प्रकार हम देकार्त, स्पिनोजा, मैलेब्रांश, लाइबनित्स और वुल्फ को बुद्धिवादी और बेकन, हॉब्स, लॉक, बार्कले और ह्यूम को अनुभववादी कह सकते हैं। बुद्धिवादी सामान्य रूप से अपनी ज्ञान विषयक धारणा में प्लेटो, अरस्तू और शास्त्रीय विचारकों (Schoolmen) के वंशज हैं। अनुभववादी नामवादी (nominalistic) परम्पराओं के जीवित रखनेवाले हैं। इस बात को पहले से ही समझ लेना है कि यह विचारक अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में सदा एक-रूप नहीं रहते। हम अपने इस कामचलाऊ वर्गीकरण में उनके ज्ञान के उत्पन्न होने की समस्या के प्रति सामान्य रुझान से ही पथदर्शित होंगे।

इन आन्दोलनों के अतिरिक्त हमें ऐसे परम्परागत विचार भी मिलते हैं जिनसे हम मध्यकालीन दर्शन में परिचित हो चुके हैं। सन्देहवाद (skepticism) या रहस्यवाद (आस्थापरक दर्शन) दोनों ही बुद्धिवाद या अनुभववाद की भूमि से विकसित हो सकते हैं। डेविड ह्यूम के सन्देहवादी निष्कर्षों को लॉक की कुछ अनुभववादी मान्यताओं का परिणाम माना जा सकता है और पियर बेल के निष्कर्षों को देकार्त के बुद्धिवादी आदर्श की प्रयोग्यता का परिणाम माना जा सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं रहस्यवाद दोनों भूमि पर पनप सकता है। मध्यकाल के बहुत से नामवादी (nominalists) रहस्यवादी थे और बहुत से आधुनिक रहस्यवादियों की धारणाएँ बुद्धिवाद की ही नींव पर निर्मित हैं। इन सब धाराओं के साथ कैथॉलिक सम्प्रदाय के प्रणेताओं ने पुरानी शास्त्रीय (scholastic) दर्शन की परम्परा को भी बनाए रखा है।

—:o:—

अंग्रेजी अनुभववाद (English Empiricism)

२

फ्रांसिस बेकन

फ्रांसिस बेकन कई अर्थों में नए आन्दोलन का आदर्शभूत प्रतिनिधि है। वह दर्शन की प्राचीन प्रभुता का विरोधी है। वह अरस्तू और यूनानी दर्शन के अतिरिक्त निष्क्रिय शास्त्रीय (School) दर्शन का भी विरोधी है। वह वस्तुओं की यथार्थता की उपेक्षा न करना बतलाता है। हमें वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में ही लेना चाहिए। प्राचीन काल में कुछ नहीं हुआ। प्राचीन काल की प्रणाली (method), आधार और निष्कर्ष गलत थे। हमें अपने मन को परम्परा से प्राप्त और चली आई राय और पक्षपात से स्वतंत्र करके, उनको न मानकर और शब्दजाल में न पड़कर स्वयं विचार कर फिर से श्रीगणेश करना चाहिए। प्राकृतिक विज्ञान को आधार होना चाहिए, प्रणाली को निगमनात्मक (inductive) और आविष्कार की कला को लक्ष्य। २५०० वर्षों तक इतनी कम उन्नति हो सकने का यही कारण है कि ज्ञान पाने की उचित प्रणाली का अनुकरण नहीं किया गया। कुछ लोग प्रदर्शन (demonstration) प्रणाली का प्रयोग करते हैं किन्तु उनका आधार जल्दबाजी में बने या विश्वास के आधार पर माने गए संदिग्ध सिद्धान्त ही होते हैं। दूसरे लोग इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग अपनाते हैं। किन्तु इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अपने आप में दोषपूर्ण है। ऐसे लोग भी हैं जो ज्ञान की संभावना को ही नहीं मानते। यह प्रवृत्ति भी कट्टर और असन्तोषप्रद है। हमें काम को फिर से शुरू करके सारे मानवी ज्ञान, विज्ञानों और कलाओं को एक दृढ़ और ठोस नींव पर आधारित या निर्मित करना चाहिए। यह लंका के लिए सेतु बाँधना है।

ये सब विचार हमारे विचारक (बेकन) की आत्मनिर्भरता और आशावादिता की भाँति आधुनिक हैं। प्राचीन युग की असफलताएँ ही उसे इस बात की आशा और विश्वास बँधाती हैं कि प्रशंसनीय सिद्धियों का युग दूर नहीं है, महान् घटनाएँ होने जा रही हैं और प्राचीन निष्क्रिय विज्ञान का परित्याग करने से संसार और समाज परिवर्तित हो जायगा। बेकन ने व्यावहारिक लक्ष्य पर बहुत जोर दिया है। "जो लक्ष्य सदा सामने रहना चाहिए वह प्राप्त सत्य की प्रयोग्यता से मानव जाति की भलाई है।"

बेकन ने स्वयं अपने प्रयोगों से प्राकृतिक विज्ञान को प्रगति नहीं दी। नए युग के खगोलवेत्ताओं (astronomers) के महत्वपूर्ण कामों की सराहना करने के लिए वह गणित से ठीक तरह परिचित भी नहीं था। उसकी प्रणाली (method) विषयक धारणाओं का प्रयोगपरक (experimental) विज्ञान पर कोई प्रभाव पड़ा यह कठिनता से ही कहा जा सकता है। इस दिशा में विज्ञान बहुत पहले से अग्रसर हो चुका था। बेकन के देश में ही "डी मैगनेट" (De Magnate) पुस्तक, १६००, के विख्यात लेखक विलियम गिलबर्ट ने अपने अनुसन्धानों में निगमनात्मक प्रणाली (inductive method) को अपनाया था जब कि बेकन ने इस विषय पर कुछ लिखा भी न था। हाँ, वह अपने समय का आवाहन करनेवाला कहलाने का अधिकारी अवश्य है क्योंकि उसने अपने में नवीन विज्ञानीय स्पिरिट की सचेष्ट अभिव्यक्ति की थी। प्राकृतिक विज्ञान में उसने व्यवस्थित (systematic) और विधिवत् (methodical) निरीक्षण और प्रयोग की महत्ता को समझा था और उस पर जोर दिया था। उसने प्राकृतिक विज्ञान के एक दूसरे और महत्वपूर्ण पक्ष गणित का जिक्र किया है और उसे आवश्यक समझा है। किन्तु वह स्वयं अपनी धारणाओं के निर्माण में गणित से लाभ उठा सकने से वंचित रह गया क्योंकि वह यह नहीं जानता था कि गणित से लाभ उठाया कैसे जाय।

फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) ने राजनीति और कानून की शिक्षा पाई थी, यद्यपि, यह उसका स्वयं कहना है, उसकी रुचि उसी अध्ययन में थी जिसे वह अवकाश के क्षणों में करता था। जेम्स प्रथम और रानी एलिजाबेथ ने उसे ऊँचे पद और सम्मान दिए थे। वह 'बैरन वेरुलम' और 'वाइकाउन्ट सेंट एलबान्स' बनाया गया था और 'लार्ड चांसलर' भी हो गया था। सन् १६२१ में उस पर न्यायाधीश के पद की हैसियत से अपने मुकदमेबाजों से उपहार लेने का आक्षेप लगाया गया था। उसने इस अपराध को स्वीकार तो कर लिया था किंतु उसके अनुसार इससे उसके निर्णयों पर कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। उसे इस अपराध के लिए जेल जाना पड़ा, कड़ा जुर्माना देना पड़ा और पद से हटना पड़ा। किंतु उसे राजा की माफी मिल गई और वह निजी जीवन बिताने लगा।

निगमनात्मक प्रणाली

बेकन के विचार से प्राचीन काल में दर्शन और विज्ञान की असफलता का मुख्य कारण किसी प्रणाली (method) का न होना है। समझ (under-

standing) को यदि बिना किसी आधार के छोड़ दिया जाय तो उसमें बहुत कम शक्ति रह जाती है। हमें ज्ञान तक पहुचने का कोई नया मार्ग, नया तर्कशास्त्र और मनस् (mind) के लिए कोई नया साधन बनाना चाहिए। विज्ञान में खोज करने के लिए पुराना तर्कशास्त्र बेकार है। वह सत्य की खोज न करके केवल प्रचलित धारणाओं पर आधारित भ्रान्तियों को ही दृढ़ और गहरा बनाता है।

अपनी प्रणाली को विस्तार के साथ रखने के पहले बेकन हमसे गलत रायों और चार प्रकार की भ्रान्तियों (idols) से मन को शुद्ध कर लेने को कहता है। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में जाति के विश्वास (idola tribus) रहते हैं। लक्ष्यात्मक हेतु (final causes) और मानवी इच्छाओं को प्रकृति में साकार देखने की आदत जाति के विश्वास हैं। व्यक्ति के विश्वास (idola specus) प्रत्येक व्यक्ति की विशेष प्रवृत्ति, उसकी शिक्षा और समाज, उसके अध्ययन और वह जिन लोगों का प्रशंसक होता है उनकी आप्तता (authority) आदि के अनुसार बनते हैं। शब्दों और नामों के सम्पर्क से बननेवाले बाजारू विश्वास (idola fori) सबसे अधिक उलझन में डालनेवाले होते हैं। शब्दों को प्रायः उन वस्तुओं के नाम की भाँति प्रयुक्त किया जाता है जिनकी या तो सत्ता नहीं होती या वे उन यथार्थ वस्तुओं के नाम होते हैं जो अस्पष्ट होती हैं, जिनकी परिभाषा असंयत होती है और जिन्हें जल्दबाजी में वस्तुओं का सिद्धान्त (abstract) मान लिया जाता है।

इस तरह की भ्रान्तियों से मनस् को स्वतन्त्र और मुक्त करना चाहिए। मनस् को ज्ञान की ओर अपने शुद्ध और अमिश्रित रूप में बढ़ना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि सिद्धान्तों की खोज करना और प्रतिपक्षियों को शब्दजाल से न जीतकर प्रकृति को अपने कामों से जीतना ही लक्ष्य है। प्रकृति का ज्ञान पाए बिना हम इस लक्ष्य की पूर्त्ति नहीं कर सकते। कार्यों (effects) को उत्पन्न करने के लिए हमें कारणों (causes) को जानना चाहिए। हमारी वर्तमान न्याय-वाक्य (syllogistic) प्रणाली किसी काम की नहीं है। वर्तमान विज्ञान में भी हमने पहले से ही अनुसन्धानित बातों को एक विशेष व्यवस्था दे दी है। न्याय-वाक्य (syllogism) में प्रस्तावनाएँ (propositions) होती हैं। प्रस्तावनाओं में शब्द (words) होते हैं जो किसी न किसी धारणा के सूचक होते हैं। इसलिए यदि धारणाएँ अस्पष्ट और लापरवाही से सैद्धान्तिक (abstracted) हों, जैसा कि है, तो पूरा ढाँचा ठोस नहीं हो सकता। धारणाएँ, सिद्धान्त

और स्वयंसिद्ध मान्यताएँ अनुभव पर ही आधारित होती हैं, किंतु वे जिस अनुभव पर आधारित हैं वह अस्पष्ट और दोषपूर्ण है। हमारी धारणाएँ आदि जल्दबाजी में अनुभव का सामान्यीकरण (generalisation) हैं। हमें प्रस्तावनाओं (propositions) को धीरे-धीरे निरन्तर विकसित करते हुए अन्त में एक सुनिश्चित प्रणाली और व्यवस्था द्वारा सबसे सामान्य (general) और अच्छी तरह से परिभाषित मान्यताओं तक पहुँचना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि हमें प्रयोगात्मक और बुद्धिपरक (rational) अधिकरणों (faculties) को मिला लेना चाहिए।

आगमन (induction) को साधारण गणना (simple enumeration) समझना नादानी है। मानवी ज्ञान का लक्ष्य दी हुई वस्तु या गुण (quality) के रूप (form) या सच्चे भेद या उसकी उत्पत्ति का मूल ढूंढ़ना है। रूप (form) से बेकन का तात्पर्य यथार्थवादियों (realists) की भाँति प्रत्यय (idea) या वस्तु के सैद्धान्तिक रूप (abstract form) नहीं है। बेकन के कहने के अनुसार हमें रूप पर ध्यान न देकर पुद्‌गल (matter) पर ध्यान देना चाहिए। प्रकृति में अटल नियम के अनुसार क्रिया करनेवाली अलग-अलग वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी चीज की सत्ता नहीं है। इसी नियम की खोज और व्याख्या ही दर्शन में ज्ञान और उसकी क्रिया का आधार है। बेकन ने इस नियम को रूप (form) कहा है। रूप शब्द का प्रयोग अब साधारणतया होने लगा है। टेलेसियो, बेकन ने जिसकी चर्चा की है, गर्मी और सर्दी को प्रकृति के सक्रिय (active) रूप (forms) कहता है। गर्मी का रूप (form) गर्मी का नियम है। गर्मी जहाँ कहीं भी पाई जाय वह इसी नियम से मर्यादित और नियमित होती है, गर्मी अपने नियम पर ही निर्भर है। जो व्यक्ति रूपों (forms) को जान लेता है वह भिन्न द्रव्यों (substances) में प्रकृति की एकता को समझ लेता है। ऐसा व्यक्ति प्रकृति में क्या अटल है, क्या शाश्वत और सार्वभौम है इसको जान लेता है और मानवी शक्ति के लिए ऐसे विस्तृत मार्ग खोल देता है जिनको समझ सकना या जिनका पहले से ही आभास पा लेना मनुष्य की विचार शक्ति के लिए बहुत कठिन है। बेकन के मत से गर्मी का रूप (form) या द्रव्यात्मिकता (substantial self) गति (motion) है। वस्तु (body) के सूक्ष्म अणुओं की गति ही गर्मी का रूप या द्रव्यात्मिकता (substantial self) है। रूप (form) शाश्वत और कूटस्थ (immutable) हैं। उनकी खोज का क्षेत्र तत्वसमीक्षा (metaphysics) है। भौतिक विज्ञान का क्षेत्र निमित्त कारण (efficient cause) पुद्‌गल

(matter), अव्यक्त व्यापार (latent process) और अव्यक्त प्रतिरूपों (latent configurations) की खोज करना है। रूप या प्रकृति के आधारभूत (fundamental) नियमों की प्रयोग्यता (application) उच्च से उच्च आविष्कार की ओर ले जाती हैं। बेकन इसको जादू (magic) कहता है। जादू व्यावहारिक तत्वसमीक्षा (metaphysics) है। (यहाँ बेकन स्पष्टतया सोना बनाने की कला के विषय में विचार कर रहा है)। पौद्गलिक (material) और निमित्त कारणों (efficient causes) की प्रयोग्यता (application) व्यावहारिक भौतिक विज्ञान या यंत्र-क्रिया (mechanics) है।

इसलिए सबसे महत्वपूर्ण कारण या नियम रूप हैं जिनकी खोज विज्ञान द्वारा की जाती है। उनको आगमन (induction) द्वारा पाया जाता है। (१) किसी पदार्थ या गुण (जैसे गर्मी) की मुख्यता यह है कि रूप (form) की उपस्थिति पर गुण (quality) भी सदा प्रकट रहता है। गुण (quality) के उपस्थित रहने पर रूप (form) उसमें सदा उपस्थित रहता है। रूप (form) गुण (quality) में शाश्वत भाव से निहित और उपस्थित रहता है। (२) रूप (form) की अनुपस्थिति में गुण (quality) की उपस्थिति नहीं हो सकती। अतएव गुण की अनुपस्थिति रूप (form) की अनुपस्थिति की सूचक है। गुण का अभाव रूप का अभाव है क्योंकि रूप किसी अन्य वस्तु में निहित नहीं होता। (३) सच्चा रूप (form) दिए हुए गुण का निगमन (deduction) किसी ऐसी सत्ता से करता है जो अन्य गुणों में भी निहित होती है और जिसका ज्ञान प्राकृतिक वस्तुओं की व्यवस्था में रूप के ज्ञान से अधिक अच्छा होता है। इससे हमें अपनी प्रणाली को आगे बढ़ाने का मार्ग मिल जाता है। (१) किसी गुण (quality) की उपस्थिति में हमें सर्वप्रथम उन सब जानी हुई मिसालों पर विचार करना चाहिए जो द्रव्य रूप में (in substance) तो भिन्न होती है (तथाकथित भावात्मक मिसालें) किंतु गुण में समान होती हैं। यह सत् (Essence) या भाव (Presence) की तालिका है जिसे मिल ने अनुकूलता-प्रणाली (Method of Agreement) कहा है। (२) तब हमें उन (तथाकथित अभावात्मक) मिसालों पर विचार करना चाहिए जिनमें दिया हुआ गुण नहीं है। अभावात्मक मिसालों को भावात्मक मिसालों से मिलाना चाहिए और दिए गए गुण (quality) के अभाव की जाँच उन्हीं विषयों में करना चाहिए जो अन्य विषयों के समान हैं और जिनमें दिया हुआ गुण या तो उपस्थित रहता है या प्रकट होता है।

इसको बेकन ने अतिक्रम या समीपता की तालिका (Table of Deviation or Proximity) कहा है। यह मिल की भेद-प्रणाली (Method of Difference) है। (३) तब हम ऐसी मिसालों को लेते हैं जिनमें जाँच करनेवाला गुण कम या अधिक मात्रा में होता है। ऐसा या तो उसी विषय में गुण की मात्रा के घटने बढ़ने की तुलना कर या भिन्न-भिन्न विषयों में उस गुण के घटने बढ़ने की मात्रा की तुलना करके करते हैं। यह अंशों या तुलनात्मक मिसालों की तालिका (Table of Degrees or Comparative Instances) है। मिल इसे सहकारि-परिवर्तन-प्रणाली (Method of Concomitant Variation) कहता है। बेकन ने रूपों (forms) का पता लगाने के लिए बुद्धि की सहायता करनेवाले ग्यारह और साधनों का विवरण दिया है। किंतु पूरी व्याख्या उसने इन्हीं तीन साधनों की की है।

दर्शन का कार्यक्रम

बेकन के मत से विज्ञान का काम मानव जाति को नए तरीके से करना चाहिए। परिस्थितियों को देखते हुए यह स्वाभाविक था कि बेकन ने विश्व के विषय में स्वयं अपना कोई पूरा मत नहीं दिया। उसका काम तो भूमि तैयार करके नई सिद्धियों के लिए मार्ग निदशन कर देना था। उसने ज्ञान क्षेत्र को मनस् की क्षमताओं (स्मृति., कल्पना और तर्क) के आधार पर इतिहास, काव्य और दर्शन में विभाजित कर प्रत्येक को अनेक विशेष उपशाखाओं में विभक्त किया है।

दर्शन तर्कजन्य है। दर्शन में इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संस्कारों (impressions) की सैद्धान्तिक (abstract) धारणाओं पर विचार किया जाता है। सत्ता और प्रकृति के नियम के अनुसार इन धारणाओं का संघटन (composition) और विभाजन (division) करना ही दर्शन का उद्देश्य है। दर्शन के अन्तर्गत 'प्राथमिक दर्शन' (Primary Philosophy) अनुश्रुत ईश्वरवाद (revealed theology), प्राकृतिक ईश्वरवाद, (natural theology), तत्वसमीक्षा (metaphysics), भौतिक विज्ञान (physics), यंत्र-विद्या (mechanics), जादू (magic), गणित, मनोविज्ञान और आचार-शास्त्र (ethics) ये सभी हैं। 'प्राथमिक दर्शन' (Primary Philosophy) का काम अनेक विज्ञानों के सामान्य मूलभूत सिद्धान्तों, जिन्हें हम बुद्धि के नियम (laws of thought) और संज्ञि (categories) कहते हैं, की विवेचना करना है। तत्वसमीक्षा के दो काम हैं : एक तो वस्तुओं (bodies) के शाश्वत और कूटस्थ रूपों

(forms) की खोज और दूसरे उद्देश्य, लक्ष्य और लक्ष्यात्मक कारणों (final causes) की विवेचना। भौतिक विज्ञान में लक्ष्यात्मक कारणों (final causes) का कोई स्थान नहीं है। डिमोक्रीटस ने उन पर समय बर्बाद नहीं किया। इसलिए, बेकन के मत से, डिमोक्रीटस प्लेटो और अरस्तू, जो सदा लक्ष्यात्मक कारणों (final causes) के ही पीछे पड़े रहे, की अपेक्षा प्रकृति की अधिक गहराइयों तक जा सका। व्यावहारिकता की दृष्टि से लक्ष्यात्मक कारणों (final causes) का कोई महत्व नहीं है। उनकी धारणा ऊसर है। गणित पुद्गल की मुख्य, बहुत सैद्धान्तिक (abstract) और पृथक हो सकने योग्य रूप (form) संख्या (quality) का विज्ञान होने से तत्वसमीक्षा (metaphysics) की एक शाखा है। गणित और तर्कशास्त्र को भौतिक विज्ञान की परिचारिका होना चाहिए था किन्तु इसके विपरीत वह भौतिक विज्ञान के ऊपर प्रभुता रखती हैं। तत्वसमीक्षा (metaphysics), यंत्रविद्या (mechanics) और जादू (magic) के लिए गणित का बहुत महत्व है।

मानव दर्शन

मानव दर्शन के अन्तर्गत मानवी और सामाजिक या राजनैतिक दर्शन हैं। मानवी दर्शन में मनुष्य को समाज से पृथक करके और सामाजिक दर्शन में उसे समाज में सम्मिलित करके उस पर विचार किया जाता है। मानवी दर्शन शरीर और आत्मा और उनके सम्बन्ध का अध्ययन है। मानवी दर्शन के प्रसंगों में मानव जाति की खूबियाँ या परमाधिकार और दुःख, आकृति विज्ञान (physiognomy) और प्राकृतिक स्वप्नों की व्याख्या, शारीरिक अवस्थाओं और मनस् का परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव और शरीर और उसके अवयवों (organs) में प्रत्येक मानसिक शक्ति के निहित होने का स्थान आदि हैं।

मनुष्य की आत्मा में एक दैवी (divine) या विवेकशील (rational) और एक अविवेकशील भाग होता है। विवेकशील भाग से सम्बन्धित सभी समस्याओं को धर्म के अन्तर्गत कर देना चाहिए। समझ, तर्क, कल्पना, स्मृति, सुख, संकल्प इत्यादि आत्मा की शक्तियाँ हैं। तर्कशास्त्र और आचारशास्त्र में जिन बातों का अध्ययन होता है वे भी आत्मा की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों की उत्पत्ति का भौतिक रूप से निरूपण करना चाहिए। स्वेच्छाकृत गति (voluntary motion) और संविद् (sensibility) का प्रश्न बड़ा रोचक है। गति में आकर आत्मा जैसी सूक्ष्म श्वाँस इतनी स्थूल वस्तु

में कैसे परिवेष्ठित हो जाती है? प्रत्यक्ष (perception) और इन्द्रियानुभूति (sense) में क्या भेद है ? बेकन ने अनेक वस्तुओं में प्रत्यक्ष (perception) की व्यक्त शक्ति मानी है। वस्तुओं में एक प्रकार की अन्तर्प्रेरणा (appetite) होती है जिससे वे उनके लिए क्या माफिक है और क्या माफिक नहीं है इसका चुनाव कर सकती हैं। (चुम्बक लोहे को खींचता है; पानी की एक बूंद दूसरी बूंद में मिलने को दौड़ती है)। एक वस्तु दूसरी वस्तु की अन्तः प्रेरणा (impulse) का संवेदन करती है, रुकावट डालनेवाली वस्तु का प्रत्यक्ष करती है। प्रत्यक्षता सारी प्रकृति में बिखरी हुई है। लेकिन बेकन का पूछना है कि इन्द्रियानुभूति (sense) या चेतनता के बिना प्रत्यक्ष कैसे सम्भव हो सकता है! यहाँ हम देखते हैं कि नए विचारक बेकन के लिए प्रकृति के अनुप्राणित होने की प्राचीन मध्यकालीन धारणा को अपने हृदय से निकाल देना कितना कठिन था।

तर्कशास्त्र समझ और बुद्धि का अध्ययन करता है और आचार शास्त्र इच्छा, तृष्णा और अभिभावों (affections) का। पहला योजना बनाता है और दूसरा उसे कार्यान्वित करता है। खोज या आविष्कार, जाँच या निर्णय, संरक्षण या स्मृति, बोलने की कला और ढँग ही तार्किक कला हैं। आगमन (induction) का अध्ययन निर्णय करने की कला के अंतर्गत है। आचार शास्त्र औचित्य की प्रकृति को बताता है और उसके पालन करने के लिए नियम बनाता है। मनुष्य खुदगर्जी और सामाजिक भावनाओं से प्रेरित होता है। वैयक्तिक या आत्म औचित्य, आत्मरक्षण और रक्षा सामाजिक औचित्य से बिल्कुल अलग हैं, यद्यपि कभी-कभी उनमें सादृश्य हो सकता है। सामाजिक औचित्य को कर्तव्य कहते हैं। न्याय और उसके औचित्य के उद्गम का पता लगाना ही शासन विज्ञान का काम है।

तत्वसमीक्षा (Metaphysics) और ईश्वरवाद (Theology)

एक बड़े अर्थ में दर्शन ज्ञान की नींव है। दर्शन बेकन द्वारा प्रस्तावित सभी विषयों की सच्ची और संतुलित खोज पर ही आधारित है। बेकन का उद्देश्य किसी सार्वभौम व्यवस्था को न देकर "मनुष्य की शक्ति और महानता की नींव को सुदृढ़ करके उसके क्षेत्र को और बढ़ा देना था।" कि विश्व के विषय में एक धारणा बनाने के प्रयत्न का समय आ चुका था इसको बेकन देख नहीं सका था। वह तो ऐसे ज्ञान की संभावना में ही सन्देह रखता था।

बेकन ईश्वरवाद (theology) को प्राकृतिक (natural) और

अनुश्रुत (revealed) में विभाजित करता है । प्राकृतिक ईश्वरवाद (natural theology) ईश्वर विषयक वह ज्ञान है जिसे प्रकृति के जीवों पर मनन् करने और प्रकृति के अन्तर्दर्शन से पाया जा सकता है। यदि इस ज्ञान की सीमाएँ ठीक से खींची जाँय तो यह नास्तिकवाद (atheism) का प्रतिकार करने और उसको विश्वास दिला देने के लिए और प्रकृति के की, संस्थापित धर्म की नहीं, सूचना देने के लिए पर्याप्त है। "यह अनुभव नियम का माना हुआ सत्य और निष्कर्ष है कि दर्शन का कम या ऊपरी ज्ञान मनुष्य को नास्तिकवाद की ओर प्रवृत्त कर सकता है किंतु यदि दर्शन के मार्ग पर आगे बढ़ा जाय तो मनुष्य फिर धर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है।" फिर भी ऐसे अध्ययन से ईश्वर का पूर्ण ज्ञान नहीं मिलता। हम दैविक रहस्यों को तर्कसंगत नहीं बना सकते। यहाँ इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, जो सब विज्ञानों के साथ है, हमारी सहायता नहीं कर सकता। "इन्द्रियाँ सूर्य के समान हैं जो धरती के ऊपरी भाग का प्रदर्शन करती हैं किन्तु स्वर्ग (heavens) को प्रदर्शित नहीं कर पातीं।" यहाँ हमें अनुश्रत ईश्वरवाद (revealed theology) की शरण में जाना पड़ेगा। यहाँ हमें "मानवी बुद्धि की छोटी नौका को छोड़कर चर्च के जहाज पर चढ़ना होगा जिसके दैवी पतवार से ही हमारा मार्ग उचित रूप से बन सकता है। दर्शनाकाश के नक्षत्र हमारा पथ प्रदर्शन नहीं कर सकते। जिस प्रकार हमें अपनी इच्छा के प्रतिकूल दैवी नियमों को मानना ही पड़ता है उसी प्रकार हमें ईश्वर के शब्दों को भी मानना ही पड़ेगा चाहे उससे हमारे तर्क को आघात ही क्यों न पहुँचे। दैवी रहस्य जितना ही अनर्गल और अविश्वसनीय होता है हम उसमें विश्वास करके ईश्वर के प्रति उतना ही बड़ा सम्मान दिखाते हैं। हमें जिस तरह का ज्ञान इस समय है उसको जानने से तो विश्वास करना ही अच्छा है। ज्ञान में, जो पौद्गलिक (material) वस्तुओं से होता है, मनस् इन्द्रियों की सहायता से क्रिया करता है। विश्वास में आत्मा आत्मा से, जो अधिक उचित माध्यम है, प्रेरित होती है। इसलिए ईश्वरवाद को तर्क पर आश्रित न होकर ईश्वरीय शब्द और वाणी पर आश्रित होना चाहिए।" ऐसा केवल ईश्वरीय रहस्यों में ही उपयोज्य नहीं है किंतु नैतिक नियमों की सच्ची व्याख्या में भी उपयोज्य है, क्योंकि नैतिक नियमों का एक बड़ा भाग प्रकृति के अन्तर्दर्शन से नहीं जाना जा सकता। इसलिए बेकन मध्य-कालीन शास्त्रीय विचारकों की ईसाई धर्म की सच्चाई को दार्शनिकों के सिद्धांतों से निकालने के प्रयत्न को अंगीकार नहीं करता। विज्ञान और विश्-वास का मेल औरस नहीं है। किंतु धार्मिक सिद्धान्तों के संस्थापन के बाद हम

उनसे अनुमान (inferences) निकाल सकते हैं। यदि हम पूर्व-प्रस्तावों (premises) को मानें तो हमें अनुमिति (conclusions) को मानना ही पड़ेगा। "इसी प्रकार शतरंज या उसी तरह के दूसरे खेलों में खेल के नियम केवल भावात्मक मान्यताएँ ही होती हैं जिन पर वाद विवाद न करके उन्हें मान लिया जाता है : किंतु खेल का चतुरता से खेलना कला और तर्क पर निर्भर है।"

दर्शन और ईश्वरवाद का विभेद बेकन की मध्ययुग के अन्तिम काल की दायज है। रूढ़ियों को एक अलग क्षेत्र में करके दर्शन का क्षेत्र स्वतन्त्र कर दिया गया था। ईश्वरवाद (theology) के प्रति बेकन की प्रवृत्ति वास्तव में तटस्थ है। हमें इससे आश्चर्य हो सकता है कि बेकन अपना ध्यान खगोल विद्या, स्वप्न और दैवी बातों आदि विषयों पर अधिक देता है। चूंकि बेकन के समय में इन बातों पर बहुत विश्वास किया जाता था अतएव समय को देखते हुए उनका विज्ञानीय अध्ययन अनुपयुक्त नहीं था।

यद्यपि बेकन ने अपने अनुभववाद (empiricism) को कोई एकरूपता नहीं दी तथापि हम उसे अनुभववाद (empiricism) के सम्प्रदाय के एक सदस्य की श्रेणी में रख सकते हैं। बेकन श्रुति (revelation) के अतिरिक्त सारे ज्ञान को अनुभव से उद्भूत और केवल वस्तु विशेष (particular) की सत्ता को मानता है। मनस् या तर्क अनुभव द्वारा दी गई सामग्री पर क्रिया करता है। ज्ञान बुद्धिपरक और प्रयोगात्मक है; किंतु तर्क की अपनी मान्यताएँ नहीं होतीं। साथ ही मानसिक शक्तियों का ऐसा विवरण दिया गया है मानों वे प्रागनुभव (a priori) हों। आत्मा पौद्गलिक (material) है किंतु फिर भी एक तर्कपरक आत्मा है जो धर्म के क्षेत्र में आती है और जिसके विषय में हम कुछ नहीं जानते। लक्ष्यात्मक कारणों की धारणा (teleology) को भौतिक विज्ञान से निकालकर तत्व समीक्षा (metaphysics) का निष्क्रिय भाग बना दिया गया है।

—:o:—

३

टॉमस हॉब्स

टॉमस हॉब्स नए आन्दोलन को अधिक एकरूपता देनेवाला एक निर्भीक प्रतिनिधि है। सब सुधारकों की भाँति वह भी प्राचीन काल से नाता तोड़ लेता है। यूनानी दर्शन उसके लिए एक 'तमाशा' है। मान्य विचारों को छाँटना ही हाथ में लेने योग्य काम है। बेकन की भाँति हॉब्स भी विज्ञान या दर्शन की व्यावहारिक उपादेयता पर जोर देता है। ज्ञान का उद्देश्य शक्ति की प्राप्ति है। वह ईश्वरवाद (theology) को विज्ञानीय नहीं मानता। ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं हो सकता और न देवों की कोई धारणा। वह अपने समकालीन देकार्त के आधारभूत सिद्धान्त आत्मा की आध्यात्मिक धारणा को अंगीकार नहीं करता जिसे बेकन ने अपने शारीरिक मनोविज्ञान (physiological psychology) में परिशिष्ट की भाँति जगह दी थी। हॉब्स कोपरनिकस, गैलिलियो और हार्वी के नवीन प्राकृतिक विज्ञान को मानता है और उन्हीं को विज्ञान का जन्मदाता समझता है। वह अपने भौतिकवादी (materialistic) दर्शन में यांत्रिक (machanical) धारणा के निष्कर्षों का निगमन (deduction) निर्भीकता से करता है। स्वयं गणित का विद्यार्थी होने से हॉब्स ज्यामिति की प्रणाली से ही सच्चे और सर्वमान्य ज्ञान की प्राप्ति मानता है। इसलिए उसके निकट प्राकृतिक और राजनैतिक इतिहास विज्ञान नहीं है। उनका ज्ञान केवल अनुभव पर ही आश्रित है, तर्क वितर्क (ratiocination) पर नहीं। हॉब्स का ज्ञान विषयक बुद्धिवादी आदर्श गैलिलियो और देकार्त के आदर्श से समानता रखता है किंतु ज्ञान के उत्पन्न होने की धारणा में हॉब्स बेकन की भाँति अनुभववादी (empiricist) है। वह अपने बुद्धिवाद को अपने अनुभववाद (empiricism) से सम्बन्धित करने में कठिनाई पाता हैं। उसके दर्शन में इन दोनों की उपस्थिति से बहुत विरूपता और अनिश्चितता आ गई है। दर्शन को वह अपनी राज्य विषयक धारणा (Theory of the State) मुख्य देन समझता है। वह अपने को अभिमानपूर्वक नागरिक दर्शन का प्रवर्तक कहता है।

टॉमस हॉब्स (१५८८-१६७९ने ऑक्सफोर्ड में अरस्तू का दर्शन और मध्यकालीन शास्त्रीयवाद (scholasticism) पढ़ा था। वह युवा अँग्रेजी रईसों का साथी और शिक्षक बनकर यूरोप में खूब घूमा था। पेरिस में वह देकार्त, गैसेन्डी और मेरसेन से परिचित हो गया था। 'दीर्घ पार्लियामेंट' (Long Parliament) की बैठक के बाद वह नवम्बर १६४० में फ्रांस भाग गया था और १६५१ में क्रॉमवेल से अपना समझौता करने के लिए लौटा था।

ज्ञान विषयक मत

हॉब्स के अनुसार दर्शन कार्यों (effects) से उनके कारणों और कारणों से उनके कार्यों का ज्ञान है। अतएव दर्शन की प्रणाली एक ओर तो संश्लेषात्मक (synthetic) है और दूसरी ओर विश्लेषात्मक (analytic)। हम यातभो इन्द्रिय प्रत्यक्ष या अनुभव से सिद्धान्तों की ओर (विश्लेष) या प्रमुख (primary) या अधिक सार्वभौम प्रस्तावनाओं (propositions) या अपने आप से व्यक्त सिद्धान्तों से अनुमिति (conclusion) (संश्लेष) की ओर जा सकते हैं। चूंकि अनुभवमात्र ही विज्ञान नहीं है इसलिए सच्चे विज्ञान या सच्चे प्रदर्शन के लिए बुद्धि को अपना काम सच्चे सिद्धान्तों से करना चाहिए। नामवादी (nominalist) होने से हॉब्स ने बुद्धि की परिभाषा देते हुए उसे एक प्रकार का अनुगणन (calculation) बताया है। बुद्धि संगणन (reckoning) मात्र ही है। बुद्धि माने हुए सामान्य नामों के परिणामों का जोड़ना या घटाना है जिससे विचारों में अर्थ और लक्ष्य आ जाय।

इसलिए समस्या एक प्राथमिक सिद्धान्त (first principle), अपने तर्क के लिए आदि बिन्दु और किसी ऐंसे कारण की खोज करना है जिस पर कार्यों (effect) को आधारित किया जा सके। हॉब्स इस समस्या का समाधान गति (motion) में पाता है। जिसके कारणों और कार्यों (effects) को हम जान सकते हैं वह हर वस्तु दर्शन का विषय है। कुछ वस्तुएँ प्राकृतिक हैं और कुछ कृत्रिम हैं क्योंकि वे मनुष्य द्वारा निर्मित हैं। इसलिए एक ओर तो प्राकृतिक दर्शन (भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान) है और दूसरी ओर राजनैतिक दर्शन है जिसके अन्तर्गत आचार शास्त्र (ethics) और राजनीति (politics) है। प्रमुख या प्राथमिक दर्शन (primary or first philosophy) स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों (fundamental principles) या सारे विज्ञानों की परिभाषा का विज्ञान है। दर्शन प्रसर (space), काल (time), पदार्थ,

कारण, कार्य (effect), तादात्म्य (identity), भेद, सम्बन्ध, संख्या इत्यादि के अध्ययन की अन्य शाखाओं की एक तरह की प्रस्तावना (prelude) है। ससीम (particular) वस्तुओं का विश्लेषण करने से अन्त में हम उनके सबसे सार्वभौम गुणों तक पहुँच जाते हैं और तुरन्त उनके कारणों को जान लेते हैं क्योंकि वह स्वयं व्यक्त होते हैं। इन सारे कारणों का एक सार्वभौम (universal) कारण गति (motion) है। हम वस्तुओं के पूर्व पक्ष को जाने बिना उनके बाद के पक्ष का प्रदर्शन नहीं कर सकते। अतएव दर्शन प्राकृतिक और राजनैतिक वस्तुओं की गति और क्रियाओं का विज्ञान है। क्या मानवी प्रकृति, क्या मानसिक जगत, क्या राज्य (State) और क्या भौतिक प्रकृति की घटनाएँ इन सबकी व्याख्या गति (motion) से की जा सकती है।

यह सिद्धान्त कहाँ से उत्पन्न होते हैं? हमारे ज्ञान का मूल कहाँ है? हमारे विचारों का मूल इन्द्रियानुभूति (sense) है। संवेदन (sensations) स्मृति में बने रहते हैं। स्मृति अनेक वस्तुओं का अनुभव है। मनस् में विचार एक के बाद एक करके आते रहते हैं। इस प्रकार हमें विचारों की एक श्रृंखला मिलती है जो इच्छा और योजना से नियमित हो सकती है। वाणी का उद्देश्य हमारे मानसिक विचारों को शब्दों की श्रृंखला द्वारा परावर्तित (transfer) करना है। शब्दों द्वारा हमारे विचार पंजीबद्ध (register) हो जाते हैं और दूसरों तक पहुँच भी जाते हैं। नामों की उचित परिभाषा में ही वाणी का पहला प्रयोग होता है जो विज्ञान का सुलाभ है। विज्ञान में हम सार्वभौम शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु वस्तुएँ अपने आप में सार्वभौम नहीं होतीं। सामान्य मनुष्य (नामवाद) नाम की कोई चीज नहीं होती। अतएव न तो तथ्य (fact) का ज्ञान और न ही परिणाम का ज्ञान निरपेक्ष है प्रत्युत सापेक्ष है।

जहाँ बेकन अनुभव या आगमन (induction) पर जोर देता है वहाँ हॉब्स ने प्रदर्शन या निगमन (deduction) प्रणाली की अनिवार्यता दिखाई है। किंतु यह मानते हुए कि वे सिद्धान्त जिनके आधार पर तर्क किया जाता ह इन्द्रियानुभूति (sense) से उद्‌भूत होते हैं हॉब्स निरपेक्ष ज्ञान को पा सकने को किसी भी प्रणाली की संभावना में अपना अटल विश्वास खो बैठता है। लॉक बाद में यह मानकर कि हम पदार्थों का कोई विज्ञान नहीं बना सकते इन संदेहों की पुष्टि करता है।

ज्ञान इन्द्रियानुभूति (sense-impressions) से उत्पन्न होता है।

इन्द्रियानुभूति क्या है और कैसे उत्पन्न होती है ? हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा रंग, शब्द, स्वाद, गंध, स्पर्श आदि विभिन्न प्रकार की अनुभूति होती है। यह व्यापार (process) किसी वाह्य वस्तु की क्रिया से इन्द्रियों पर होते हैं। गति (motion) अवयवों (organ) में उत्पन्न होकर शिराओं द्वारा मस्तिष्क और वहाँ से हृदय में पहुँचती है। तब वहाँ एक प्रतिक्रिया (वहिर्मुखी चेष्टा) होती है जिससे वस्तु की वाह्यता का आभास होता है। संवेदन (sensations) केवल मस्तिष्क या आत्मा या सिर के अन्दर किसी आन्तरिक वस्तु में होनेवाली गति (motion) हैं। संवेदन या प्रतिबिम्ब या रंग प्रतिभास मात्र हैं। वे गति (motion), हलचल या वस्तु द्वारा मस्तिष्क में होने वाले परिवर्तन ही हैं। संवेदन अपने आप में वस्तुओं के गुण हैं, वे केवल हमारे अन्दर की गति (motion) हैं। चूंकि गति को गति ही उत्पन्न कर सकती है अतएव गति से वाह्य कुछ नहीं हो सकता। सब इन्द्रियानुभूति (sense) झूठी है किंतु कारण सच्ची चीज है। संवेदन (sensation) के कारण और संवेदन या उसके प्रतिभास में कोई समानता नहीं है। वाह्य सत्य गतिशील है। हमीं रंग या शब्द की तरह उसका प्रत्यक्ष करते हैं। जगत का जो चित्र हमें इन्द्रियानुभूति (sense) द्वारा मिलता है वह सत्य नहीं है।

यदि यह सच हो तो हम जगत की प्रकृति क्या है इसको कैसे जान सकते हैं ? हॉब्स इसका उत्तर नहीं देता। उसके सामने यह समस्या थी ही नहीं। अपने समय के वैज्ञानिकों की भाँति हॉब्स ने भी कट्टरता से यह मान लिया था कि जगत एक गतिशील और शारीरिक (corporeal) एकता वाला जगत है। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, देकार्त ने आगमनात्मक (inductive) ढंग से चेतनता की आत्मनिश्चितता के आधार पर एक गतिशील प्रपंचात्मक (extended) जगत की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। किंतु अंग्रेजी अनुभववादी हॉब्स वस्तुओं के निज स्वरूप के विषय में सन्देहवादी (skeptical) शंकाओं से चिंतित नहीं था।

तत्व समीक्षा (Metaphysics)

वस्तुओं की सच्ची दुनियाँ की सत्ता प्रसर (space) में है। काल्पनिक प्रसर से अलग वास्तविक प्रसर (space) या पदार्थों द्वारा उत्पन्न प्रसर (space) के प्रत्यय (idea) की सत्ता है। कार्य का वास्तविक आकार (magnitude) मनस् में प्रसर (space) के प्रत्यय (idea) को जन्म देता है। इस अर्थ में काल्पनिक प्रसर मनस् का एक संयोग (accident) मात्र ही है। आकार और प्रपंच (extension) के गुण के बिना किसी पदार्थ को सोचा नहीं जा सकता।

यद्यपि और सब गुण--गति, ध्रुवता, रंग, कठोरता इत्यादि--निरन्तर नष्ट होते रहते हैं और दूसरे गुणों से अनुपूर्व (succeed) होते रहते हैं तथापि पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता। गति की परिभाषा निरन्तर एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को प्राप्त करना दी गई है। गति का कारण सिवाय गति के और कुछ नहीं हो सकता। जब एक गति (motion) से दूसरी गति उत्पन्न होती है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई संयोग (accident) इस वस्तु से उस वस्तु में चला जाता है किंतु वह संयोग नष्ट हो जाता हैऔर उसके स्थान पर दूसरा उत्पन्न होता है। कोई वस्तु दूसरी वस्तु में जब किसी संयोग (accident) को उत्पन्न या नष्ट कर दे तब यह कहा जाता है कि उस वस्तु ने दूसरी वस्तु पर क्रिया की। यह कार्य-कारण का सम्बन्ध है। सारे परिवर्तन और गति (motion) का निमित्त कारण (efficient cause) गति है। शक्ति सब क्रियाओं (acts) से अलग कोई संयोग (accident) नहीं है। उसको शक्ति इसलिए कहा जाता है कि बाद में उससे दूसरी क्रिया उत्पन्न हो सकती है। गति का आदि क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिक नहीं दे सकते प्रत्युत वही दे सकते हैं जो "विधानतः ईश्वर की पूजा की आज्ञा देने के अधिकारी हैं।" सृष्टि करते समय ईश्वर ने सब वस्तुओं को वही प्राकृतिक और विशेष गति दी जो उसने उनके लिए उचित समझी।

पदार्थों के अतिरिक्त कोई अमूर्त द्रव्य (substance) या स्पिरिट नहीं है जैसा कि शास्त्रीय विचारकों (schoolmen) का मत था। द्रव्य और पदार्थ एक ही चीज हैं। अतएव अमूर्त द्रव्यों को मानना अमूर्त पदार्थों को भी मानना है जो बाधित बात या वाणी की अनर्गलता है। यदि स्पिरिट या आत्माएँ हों भी तो भी हम उन्हें नहीं जान सकते क्योंकि हमारा सारा ज्ञान संवेदन (sensation) पर निर्भर है और इन्द्रियानुभूति (sense) पर स्पिरिटों की क्रिया नहीं मानी जा सकती। बाइबिल भी अमूर्त (incorporeal) या अपौद्गलिक (immaterial) आत्मा की शिक्षा नहीं देती। बाइबिल में उन्हीं लोगों का समर्थन है जो देवदूतों और स्पिरिटों को मूर्त (corporeal) मानते हैं। हॉब्स का रुझान स्वयं ईश्वर को एक मूर्त सत्ता मानने की ओर है। ईश्वर है इसे हम जान सकते हैं और कारणात्मक दृष्टि से सिद्ध भी कर सकते हैं, किंतु वह है क्या? इसे हम नहीं जानते।

मनोविज्ञान

हॉब्स ने मनस् की अनेक धारणाएँ दी हैं। मस्तिष्क में गति का होना ही मनस् (mind) है या फिर मनस् सिर में कोई आन्तरिक द्रव्य

या सूक्ष्म शरीर है। मस्तिष्क और हृदय की गति ही प्रतिमूर्त्ति (images) या प्रत्यय (ideas) हैं। वह एक पौद्गलिक (material) द्रव्य (substance) की गति (motion) हैं। यह सरासर भौतिकवाद (materialism) है। किंतु जिस समय हॉब्स मानसिक व्यापारों (mental processes) को प्रतिभासित या गति (motion) का आभास या मनस् का संयोग (accident) मानता है जो 'गति के समान नहीं है' तो वह अपने भौतिकवाद में संशोधन करता है। अब चेतनता की अवस्थाएँ गति न रहकर गति के कार्य (effects) हो जाती हैं। आधुनिक लेखकों ने इसे सहकारि-दृष्टिविषयकतावाद (epiphenomenalism) कहा है। चेतनता प्रतिभास के बाद होती है।

जानने की शक्ति के अलावा उद्देश्य (motive) शक्ति भी होती है जिससे मनस् अपने शरीर को प्राण गति देता है। गति सिर से प्रारम्भ होकर हृदय तक जाती है। जब वह हृदय में प्राणभूत (vital) गति को सहायता देती है तो सुख या प्रसन्नता होती है और जब उसमें रुकावट डालती है तो कष्ट होता है। सुख दुख, इच्छा और द्वेष को उगाते हैं। इच्छा किसी चीज की ओर और द्वेष किसी चीज की ओर से प्रयत्न करने का नाम है। हमारी कुछ इच्छाएँ और द्वेष जन्मजात होते हैं (जैसे भोजन पाने की इच्छा)। शेष इच्छाएँ अनुभव से उत्पन्न होती हैं।

मनुष्य जिससे प्रसन्न और जिससे अप्रसन्न होता है हॉब्स क्रमशः उसे अच्छा और बुरा कहता है। चूंकि मनुष्य एक से नहीं होते अतएव अच्छे और बुरे मे भी भेद होता है। निरपेक्षित अच्छाई कोई चीज नहीं है। अच्छाई सदा सापेक्षिक होती है। यहाँ तक कि ईश्वर की अच्छाई भी हमारे लिए ही अच्छाई है। सारी प्रसन्नता या सुख इच्छा है, अतएव सिवाय बढ़ने के या उन्नति करते रहने के और कोई सन्तोष नहीं हो सकता। सुख धन पा जाने में नहीं वरन् पाते रहने में है।

सारी इच्छित गति का आदि कल्पना (imagination) है। इच्छा और द्वेष का अवान्तर आनुपूर्व्य ही विमर्श (deliberation) है। विमर्श में अन्तिम इच्छा या द्वेष को संकल्प (will) कहते हैं : करने या न करने या छोड़ देने का संकल्प। किसी काम को करने या छोड़ देने को और सारी इच्छाओं को इरादा और प्रवृत्ति कहा जाता है, संकल्प नहीं। मनुष्य का संकल्प अन्य पशुओं के संकल्प से भिन्न नहीं है। इसलिए हमारी इच्छा और द्वेष के कारण हमारे संकल्प के भी करण हैं। हमारा संकल्प इन्द्रियानुभूति (sense), स्मृति, समझ बुद्धि और राय का कार्य (effect) है। संकल्प और विमर्श करते समय प्रत्येक

प्रवृत्ति अपने निमित्त कारण पर उतनी ही निर्भर होती है और उसका उतना ही आवश्यक परिणाम होती है जितनी कि कोई और चीज। संकल्प (will) स्वतन्त्र नहीं है वरन् उत्पन्न (caused) होता है। किसी को स्वतन्त्र कहने का अर्थ है कि उसने अपने विमर्श करने को समाप्त कर दिया है। स्वतन्त्र वही है जो यदि वह संकल्प करे तो उसे कार्यान्वित भी कर सके और यदि संकल्प करे तो न भी कर सके। स्वतंत्रता वाह्य रुकावटों का न होना है। मनुष्य काम करने में स्वतन्त्र है किन्तु वह जो चाहे उसका संकल्प करने में स्वतन्त्र नहीं है। वह अपनी इच्छानुसार संकल्प नहीं कर सकता। यह कहना कि यदि मैं चाहूँ तो संकल्प कर सकता हूँ अनर्गल है।

राजनीति

मनुष्य की प्रकृति समझ लेने के बाद अब हम राज्य (State) और विधान (law) का अर्थ समझने के लिए तैयार हैं। हम नागरिक (civil) और आचार दर्शन का संश्लेषात्मक (synthetical) अध्ययन कर सकते हैं। हम मानवी उद्देश्यों (मनस् की गति) से शुरू कर उनसे समानतंत्र (commonwealth), अधिकारों और कर्तव्यों की अनिवार्यता की निगमनात्मक (deductive) स्थापना कर सकते हैं। किसी एक मनुष्य के निरीक्षण से हम इन सिद्धान्तों तक विश्लेषात्मक (analytical) या निगमनात्मक तौर से भी पहुँच सकते हैं। मनुष्य को अपने शरीर के संरक्षण के लिए जो कुछ भी जरूरी है और जो कुछ उसके हाथ में है उसका उपयोग करना उचित है और ठीक है। इसलिए मनुष्य को सब चीजों पर, वह जिसके प्रति जो कुछ चाहे उसे करने का और जिन वस्तुओं का वह उपभोग करता है उन्हें रखने का, प्राकृतिक अधिकार है। प्रकृति ने हर मनुष्य को सब चीजें दी हैं अतएव अधिकार और लाभ एक ही चीज हैं। जहाँ हरेक मनुष्य इस शक्ति को पाने का प्रयास कर रहा है, जहाँ हरेक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के अधिकार छीनने और अपने अधिकार छीन लिए जाने से बचाने का अधिकार है, वहाँ सब मनुष्यों में एक दूसरे के विरुद्ध सदा युद्ध रहेगा। युद्ध की इस अवस्था में कुछ भी अनुचित नहीं हो सकता। वहाँ उचित, अनुचित, न्याय, अन्याय का कोई स्थान नहीं रहता। जहाँ एक केन्द्रित शक्ति नहीं होती वहाँ विधान नहीं होता। जहाँ विधान नहीं होता वहाँ अन्याय नहीं होता। युद्ध में मुख्य गुण जबर्दस्ती और छल होते हैं। न्याय और अन्याय मनुष्यों के सामाजिक गुण हैं, उसकी विजनता के गुण नहीं। अरस्तू की शिक्षा थी कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसकी सामाजिक प्रवृत्ति ही उसे समाज बनाने को प्रेरित करती है। हॉब्स इसको नहीं मानता। मनुष्य

प्राणघातक प्राणी है : एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए भेड़िया है। धन पाने की प्रतिद्वन्दिता, आदर, शासन या इसी तरह की शक्ति पाने की लालसा से मनुष्य शत्रुता और युद्ध करता है क्योंकि किसी प्रतिद्वन्दी की इच्छापूर्त्ति तभी हो सकती है जब वह दूसरे का बध करे, उसे रास्ते से हटा दे या परास्त कर दे। युद्ध और शत्रुता की इस दशा में कोई मनुष्य किसी समय तक अपनी रक्षा के लिए पर्याप्त बल रखनेकी आशा नहीं कर सकता। फलस्वरूप उसकी शक्ति पाने की इच्छा अपने ही से पराजित होती है। वह ऐसी अवस्था को जन्म देती है जिसमें मनुष्य का उद्देश्य ही छिन्न भिन्न हो जाता है। इसलिए अन्याय और क्षति अनर्गलता है जिसमें मनुष्य अपनी इच्छा से उसी को बिगाड़ना चाहता है जो उसने अपनी इच्छा से सदा से ही बनाया है। फिर भी, यद्यपि अन्याय पाशविक है, हॉब्स इस बात में आशावादी नहीं है कि मनुष्य बुद्धि से शासित होता है। वह परिणामों के भय से ही अपने कहे को मानता है।

अतएव बुद्धि की माँग शान्ति है और हरेक मनुष्य को शान्ति की खोज करना चाहिए। आत्म संरक्षण बुद्धि का पहला आदेश या प्रकृति का नियम है। दूसरा आदेश यह है कि मनुष्य अपने प्राकृतिक अधिकार को अलग रखकर दूसरों से उतनी ही स्वच्छन्दता ले जितनी कि वह उन्हें अपने साथ लेने देगा, यदि वह इसको शांति और रक्षा के लिए आवश्यक समझता है। ऐसा कर लेने के बाद उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने इच्छित काम को पूरा करे। मनुष्य अपने भले के लिए या अपने प्रति आपस में परावर्तित किए गए किसी अधिकार के लिए ही अपने अधिकार को परावर्तित करता है। फलस्वरूप कुछ ऐसे अधिकार हैं जिन्हें वह परावर्तित नहीं कर सकता, जैसे, आत्मरक्षण का अधिकार। वह अपने अधिकारों को अपनी जीवन रक्षा के लिए ही परावर्तित करता है। अधिकारों का यह पारस्परिक परावर्तन अनुबन्ध (contract) है। अतएव प्रकृति का तीसरा नियम यह है कि मनुष्य अपने बनाए राजीनामा या प्रतिश्रव (covenant) को पूरा करे। यह प्रतिश्रव ही न्याय का उद्गम और आधार है। जहाँ प्रतिश्रव नहीं है वहाँ कोई अधिकार परावर्तित नहीं किया गया है जिससे कोई काम अनुचित नहीं हो सकता। यदि दोनों ओर प्रतिश्रव को पूरा न करने का डर हो तो प्रतिश्रव अमान्य होता है और फिर अन्याय का कोई अर्थ नहीं रहता। इससे यह नतीजा निकलता है कि न्याय और अन्याय को अर्थपूर्ण बनाने के लिए कोई ऐसी दबाव डालनेवाली शक्ति होनी चाहिए जो मनुष्यों को समान ढंग से अपने प्रतिश्रवों (covenants) को पूरा करने को बाध्य करे और उन्हें दंड का डर देकर भी बाध्य करे। समानतंत्र (commonwealth) के निर्मित होने से पहले यह शक्ति नहीं हो सकती।

अतएव जहाँ समानतंत्र नहीं है वहाँ अन्याय का कोई अर्थ नहीं है। कुछ और नियम भी हैं जिन्हें एक सूत्र के अन्दर रक्खा जा सकता है : दूसरों के प्रति वह व्यवहार न करो जो तुम उनसे नहीं चाहते।

प्रकृति के नियम शाश्वत और अटल हैं। अन्याय, कृतघ्नता, शेखी, घमंड, असमानता इत्यादि कभी नियम संगत नहीं बनाए जा सकते, क्योंकि यह कभी नहीं हो सकता कि युद्ध से जीवन की रक्षा हो और शांति से विनाश। इन नियमों का जानन ही एक मात्र आचार दर्शन है। मनुष्य के समाज और उसके संरक्षण में अच्छा और बुरा क्या ह ? आचार दर्शन इसी का ज्ञान है। बुद्धि के आदेश होने से इन नियमों को प्राकृतिक नियम कहा जाता है। मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के ढंग की विवेचना होने से वे आचारीय नियम हैं। हॉब्स इन नियमों को ईश्वरीय नियम कहता है।

समानतंत्र (commonwealth) बनाने और शांति पाने का एकमात्र यही उपाय है कि सब व्यक्तियों की शक्ति को किसी एक व्यिक्त या व्यक्तियों की परिषद् में परिहित कर देना चाहिए जिससे वे अपने-अपने संकल्पों (wills) को बहुमत से एक संकल्प बना लें। यह स्वीकृति से अधिक है। यह सब व्यक्तियों के पारस्परिक प्रतिश्रवों (covenants) से निर्मित उनकी एक और उसी व्यक्ति में सच्ची एकता है। असंख्य लोगों की ऐसी एकता को समानतंत्र (commonwealth) कहते हैं जो पार्थिव ईश्वर है। जिस व्यक्ति में यह शक्ति होती है वह सम्राट् कहलाता है और सर्वोपरि शक्ति रखता है।

लोग शासन के रूप को नहीं बदल सकते। सर्वोपरि शक्ति को अपहृत नहीं किया जा सकता। बहुमत द्वारा घोषित किए गए सर्वसाधारण सम्राट् संस्थाओं का विरोध नहीं कर सकते। सम्राट् को विधान बनाने, न्यायाधिकरण (judicature) का, युद्ध या शांति करने का, मंत्रियों और सलाहकारों को चुनने, दण्ड और पुरस्कार देने और साथ ही साथ प्रजा के हित के सिद्धान्तों को प्रजा को सिखाने का निश्चय करने का पूरा अधिकार है। इस अधिकार को विभाजित या पृथक नहीं किया जा सकता। सम्राट् दूसरे अधिकार भी दे सकता है, जैसे धन बनाने की शक्ति। इस प्रकार की निरंकुश शासन सत्ता से जो बुराइयाँ फैल सकती हैं उनकी तुलना गृह युद्ध, जिसमें लोग बिना नकेल के ऊँट हो जाते हैं, की भयावह मुसीबतों और दुखों से नहीं की जा सकती।

सर्वोपरि शक्ति या तो एक व्यक्ति में हो सकती है या फिर उनके सम्मेलन में (राजतंत्र [monarchy], अभिजात तंत्र [aristocracy], जनतंत्र [democracy])। राजतंत्र सबसे अच्छा है क्योंकि राजा में उसके और जनता के हित

बहुत घने भाव से एक हो जाते हैं जिससे वह किसी सम्मेलन से अधिक एकरूपता से काम कर सकता है। किंतु सर्वोपरि शक्ति जहां भी हो निरंकुश (absolute) होनी चाहिए। कुछ चीजें ऐसी हैं जिनको करने से प्रजा इनकार कर सकती है। हरेक व्यक्ति को सब चीजों में स्वतन्त्रता है जिसका अधिकार अनुबन्ध (contract) से परावर्तित नहीं हो सकता। वह अपने आप को कष्ट देने या मारने या अपना अपराध स्वीकार करने या किसी दूसरे को मारने के लिए बाध्य नहीं है। इस तरह के अधिकारों में हॉब्स ने धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं गिनाया है। प्रजा का धर्म राज्य से निश्चित होता है और उनके लिए अनिवार्य होता है। ईश्वर धरती पर अपने दूतों द्वारा या सम्राटों द्वारा या उन लोगों द्वारा जिनमें उसके दूतों के समान सर्वोपरि शक्ति होती है आदेश देता है। अपनी निजी विवेक बुद्धि का आसरा असमंजस में डालता है। हम शांति बनाए रखने के लिए क्या करें ? इसका निर्णय करने के लिए एक इजलास (tribunal) होनी चाहिए। हॉब्स की राज्य विषयक धारणा को जनता की माँगों के विरुद्ध स्टुअर्टों के अँग्रेजी राजतंत्र का दार्शनिक बचाव कहा जा सकता है। मेरा प्रतिनिधि होने से सम्राट् कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता। मैंने उसे प्रभुता दी है। वह असमान व्यवहार कर सकता है किंतु ठीक अर्थों में अन्याय या क्षति नहीं कर सकता। जब तक उसके पास लोगों की रक्षा करने की शक्ति रहती है लोगों का दायित्व उसके प्रति तभी तक रहता है। सम्राट् का कर्तव्य लोगों की अच्छी सरकार बनाना ही है। जब उसके कामों से जनता की हानि होने लगती है तो वे काम प्राकृतिक या ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन होते हैं।

—:०:—

यूरोपीय बुद्धिवाद (Continental Rationalism)

४

रेने देकार्त

समस्या

बेकन की भाँति देकार्त भी प्राचीन प्रभुता से निश्चित तौर से विमुख होकर दर्शन की व्यावहारिकता पर जोर देता है। "मनुष्य अपने जीवन के आचारीय विषय, अपने स्वास्थ्य को बनाए रखने और सब कलाओं की खोजों के विषय में जो कुछ जान सकता है दर्शन उसका पूर्ण ज्ञान है।" अँग्रेजी अनुभववादियों के विपरीत देकार्त ने अपनी दार्शनिकीय प्रणाली के लिए गणित के आदर्श को अपनाया है। देकार्त हमसे तर्कशास्त्र पढ़ने और गणित का अध्ययन करके तर्कशास्त्र के नियमों का व्यवहार करने को कहता है। वह मानवी ज्ञान की योजना मात्र ही नहीं देता वरन् विचारधारा की ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है जिसमें गणित की निश्चितता हो। वह अपनी वाह्य प्रकृति की धारणा में नए युग के महान् प्राकृतिक वैज्ञानिकों से सहमत है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की--शारीरिक व्यापारों और मनोवेगों (emotions) की भी--व्याख्या रूपों (forms) का सहारा लिए बिना यंत्रवत करनी चाहिए। साथ ही देकार्त प्रत्ययवादी (idealistic) या अध्यात्मवादी (spiritualistic) दर्शन के चिरकाल सम्मानित सिद्धान्तों को भी स्वीकार करते हुए उन्हें नवीन विज्ञान की माँगों के अनुरूप बनाने की चेष्टा करता है। उसकी समस्या यंत्रविद्या (mechanics) और ईश्वर, आत्मा और स्वातन्त्र की धारणा में मेल स्थापित करना है।

रेने देकार्त (१५९६-१६५०) ल हे, तूरेन, में एक सम्मानित कुल में पैदा हुआ था। उसकी शिक्षा ल फ्लेश के ईसाइयों द्वारा हुई थी। उसने प्राचीन भाषाएँ, शास्त्रीय दर्शन (scholastic philosophy) और गणित पढ़ी थी। उसे अपनी मनोवांछित स्पष्टता और निश्चितता गणित में ही मिली। वह अन्य विषयों से सन्तुष्ट नहीं था और स्कूल छोड़ने (१६१२) के बाद उसने उनको कभी नहीं छुआ। वह ऐसे विज्ञान की खोज में था जिसे वह या तो अपने अन्दर या जगत् की महान् पुस्तक में ढूंढ़ सकता। उसने यात्राएँ की, अमीरी जीवन के

विलास किए; वह जेनरल टिल्ली (१६१९) और नासो के मॉरिस की सेनाओं में भर्ती हुआ और हर प्रकार और हर दशा में रहनेवाले मनुष्यों में मिला। इस बीच भी उसकी बौद्धिक रुचियों में अन्तर नहीं पड़ा। सेना के पड़ाव पर भी वह प्रायः मनन करता देखा जाता था। उसके सामने यह समस्या थी कि दर्शन में गणित की निश्चितता कैसे लाई जाय। इसके लिए उसने दिव्य ज्ञान की प्रार्थना की और उसकी स्वीकृति हो जाने पर लारेतो के मन्दिर में जाने की मान्यता मानी। १६२१ में सेना छोड़कर वह यात्रा करने और पढ़ने की ओर झुका। उसने पेरिस में अपने वैज्ञानिक मित्रों के साथ (१६२५–१६२८) तीन वर्ष बिताए। किंतु एकान्त की आवश्यकता समझकर वह हालैण्ड चला गया जहाँ उसने अपने आपको अपने काम की तैयारी (१६२९-१६४९) में डाल दिया। १६४९ में उसने रानी क्रिश्चिना का, जो दर्शन में अत्यन्त रुचि रखती थी, निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और स्टाकहोम की यात्रा की। वहाँ के जलवायु ने उसके स्वास्थ्य को गिरा दिया और एक साल बाद १६५० में उसकी मृत्यु हो गई।

विज्ञानों का वर्गीकरण

देकार्त के अनुसार सच्चे दर्शन का पहला भाग तत्वसमीक्षा (metaphysics) है जिसमें ईश्वर के प्रधान विशेषणों (attributes) की परिभाषा, आत्मा की अपौद्गलिकता (immateriality) और हमारी सब स्पष्ट और साधारण (simple) धारणाओं आदि जैसे ज्ञान के सिद्धान्तों की चर्चा रहती है। दूसरा भौतिक विज्ञान है जिसमें भौतिक वस्तुओं के सच्चे सिद्धान्तों को जान लेने के बाद हम सामान्यतः इस बात की परीक्षा करते हैं कि सारा विश्व बना कैसे; फिर हम विशेष रूप से पृथ्वी की प्रकृति और उस पर पाई जाने वाली चीजों, जैसे हवा, पानी, आग और अन्य खनिज पदार्थों, की परीक्षा करते हैं। फिर हम पौधों, जानवरों और मनुष्य की प्रकृति का पता लगाते हैं जिससे बाद में हम अपने लिए अन्य लाभदायक विज्ञानों की खोज करने के योग्य बन सकें। इस तरह सारा दर्शन एक वृक्ष की भाँति है : तत्वसमीक्षा (metaphysics) उसकी जड़ है, भौतिक विज्ञान तना है और अन्य विज्ञान, जैसे चिकित्साशास्त्र यंत्रविद्या (mechanics) और आचार शास्त्र, तने से निकलनेवाली शाखाएँ हैं। चूंकि आचार शास्त्र अन्य सब विज्ञानों के तमाम ज्ञान को मानकर चलता है इसलिए वह सबसे बड़ा और सबसे पूर्ण विज्ञान और समझदारी की अन्तिम

सीमा है *। 'दर्शन के सिद्धान्त' (Principles of Philosophy) नामक देकार्त की पुस्तक का पहला भाग तत्वसमीक्षा (metaphysics) पर है। अन्य तीन भाग उस "सब पर हैं जो भौतिक विज्ञान में सबसे सामान्य है।"

ज्ञान की प्रणाली और कसौटी

देकार्त का लक्ष्य ऐसे स्वयंसिद्ध सत्यों का पता लगा लेना है जिनको साधारण बुद्धि रखनेवाले भी स्वीकार कर लें। शास्त्रीय (scholastic) युग इस प्रकार का दर्शन नहीं दे पाया था। एक ही विषय पर अनेक रायें होने से दर्शन में निश्चितता ढूंढ़ना अब तक व्यर्थ था। अन्य विज्ञान जो अपने सिद्धान्त शास्त्रीय दर्शन से लेते हैं ऐसी अस्थिर नींव पर कोई ठोस चीज नहीं बना सकते। हमें स्पष्ट और निश्चित ज्ञान की जगह सन्देह और भ्रम में डालनेवाली गलत रायें ही मिलती रही हैं। दर्शन में अब तक कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो विवाद ग्रस्त न हो। अतएव यदि विज्ञानों में अटलता और स्थिरता लानी है तो हमें इन रायों को त्याग कर किसी नई नींव पर फिर से निर्माण करना होगा।

परम्परागत दृष्टिकोणों को स्वीकार न कर हमें जगत की महान् पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। "यदि हम किसी प्रस्तावना (proposition) पर ठोस निर्णय नहीं बना सकते तो प्लेटो और अरस्तू की सम्पूर्ण तर्क पद्धति भी हमें दार्शनिक नहीं बना सकती।" दूसरों की राय जानना विज्ञान नहीं इतिहास है। मनुष्य को अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए। किंतु स्पष्ट और निश्चित ज्ञान को पाने की चेष्टा में हमें किस तरह बढ़ना चाहिए, किस प्रणाली को अपनाना चाहिए? इसका संकेत हमें गणित में मिलता है। गणितज्ञ ही निश्चित और स्वयंसिद्ध प्रस्तावनाओं (propositions) को पा सकने में सफल हो सके हैं। हम बिना किसी विवाद के दो और दो मिलकर चार होते हैं या किसी त्रिभुज के कोणों का जोड़ १८०° के बराबर होता है इसे मान लेते हैं। यदि हम दर्शन में इसी तरह के सत्यों का पता लगा लें तो असंख्य वाद विवादों और झगड़ों का अन्त हो जाय। हम ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, वाह्य जगत की सत्यता को साबित कर सकेंगे और विज्ञानों को ठोस आधार दे सकेंगे।

---

*यूनानी और उनके बाद आने वाले विचारकों के साथ देकार्त दर्शन की व्यावहारिकता और आचारिकता पर जोर देता है। "जिस प्रकार अपनी आँखों से हम अपना मार्ग देखते हैं उसी प्रकार हमारे आचरण और जीवन निर्देशन के लिए दर्शन का अध्ययन बहुत जरूरी है।"

गणित में हम किस तरह बढ़ते हैं और किस प्रणाली का सहारा लेते हैं? हम उन सिद्धान्तों से प्रारम्भ करते हैं जो स्वयंसिद्ध हैं और जिन्हें हरेक व्यक्ति समझता और मानता है। हम उन सिद्धान्तों को अपना आदि बिन्दु बनाकर उनसे तर्क संगत ढंग से निकलने वाली अन्य प्रस्तावनाओं का, जिनमें गणित की निश्चितता होती है यदि तर्क में भूल न हुई हो, निगमन (deduction) करते हैं। हम स्वयंसिद्ध साधारण प्रस्तावनाओं (propositions) से प्रारंभ कर उनसे जटिल प्रस्तावनाओं तक आते हैं। अतएव हमारी प्रणाली संश्लेषात्मक (synthetic) या निगमनात्मक (deductive) होती है।

इस प्रणाली को दर्शन में उपयोजित करना चाहिए। हमें बिल्कुल निश्चित, स्पष्ट और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों को लेकर आगे बढ़ना चाहिए और उतने ही निश्चित अज्ञात और अनजान सत्यों पर आना चाहिए। परम्परागत शास्त्रीय (scholastic) प्रणाली में हमें केवल विभिन्न रायें ही मिलती हैं और उससे ऐसे सत्य की आशा करना व्यर्थ है। हम दूसरों की आप्तता पर किसी सत्य को नहीं मान सकते। हमें सत्य की खोज स्वयं करनी चाहिए और हमें जो स्पष्ट और साफ तरह से सच न लगे उसे कभी सत्य नहीं मानना चाहिए। यहाँ हमें सावधान हो जाना चाहिए। हमारे अन्दर बचपन में हमारे माता पिता और शिक्षकों द्वारा उत्पन्न किये गए बहुत से पक्षपात होते हैं। अनुभव से उन बहुत सी बातों की असत्यता साबित हो चुकी है; शायद वे सभी असत्य हों। हम अपने संवेदनों (sensations) पर भी निर्भर नहीं कर सकते क्योंकि उनसे कभी कभी धोखा हो जाता है। फिर हम यह कैसे जान सकते हैं कि संवेदनों से तत्संवादित कोई वास्तविकता है? तो क्या हमारा शरीर और क्रियाएँ वास्तविक नहीं हैं? नहीं, हम इनके बारे में भी निश्चित नहीं हो सकते। हम अक्सर धोखा खा जाते हैं; हम स्वप्न देखते हैं और यह विश्वास कर लेते हैं कि हमारे सामने वास्तविकता है जहाँ जबकि सिवा भ्रम के और कुछ नहीं होता। शायद अब भी, इस क्षण भी हम स्वप्न देख रहे हों। हमारे पास जाग्रति और स्वप्न में निश्चितता से भेद करने का कोई साधन नहीं है। हम यही समझ सकते हैं कि किसी दुष्ट स्पिरिट ने हमें इस प्रकार बनाया है कि इस जगत को हम जिस प्रकार देखते हैं उसकी सत्ता हमारे मनस् में ही हो; शायद मनस् के बाहर जगत की सत्ता न हो। गणित के प्रदर्शनों पर भी सन्देह किया जा सकता है क्योंकि हमने लोगों को गणित में भी भूल करते और उन बातों को सर्वथा सच मानते देखा है जो हमें झूठी लगी हैं। यह भी हो सकता है कि सर्व शक्तिमान् ईश्वर ने हमें ऐसा ही बनाया हो कि हम जिन चीजों को अपनी जान में

सबसे अच्छा जानते हैं वहाँ भी सदा धोखा ही खाते हों।

तब कोई ऐसा प्रत्यय (idea) नहीं है जो मुझे निश्चित लगता हो। "अतएव मैं यह समझता हूँ कि वह सब चीजें जिन्हें मैं देखता हूँ झूठी हैं, मैं इसे मानने पर विवश हूँ कि मेरे सामने मेरी धोखा देनेवाली स्मृति द्वारा उपस्थित चीजों में कोई भी चीज सत्य नहीं है। मैं समझता हूँ कि मेरे इंद्रियाँ नहीं हैं, मुझे विश्वास है कि पदार्थ, आकृति, प्रपंच (extension) गति और स्थान मेरे मनस् की गढ़न्त के सिवा और कुछ नहीं हैं। तब क्या रह जाता है जिसे सच माना जाय? केवल यही कि जगत में कुछ भी निश्चित नहीं है।"

किन्तु एक बात निश्चित है और वह यह है कि मैं सन्देह या विचार करता हूँ; इस पर कोई सन्देह नहीं हो सकता। जो वस्तु विचार करती है उसकी अपने विचार करने के क्षण में सत्ता नहीं होती ऐसा मानना बाधित है। मैं सोचता हूँ इसलिए मेरी सत्ता है: यह देकार्त का अनुभव के मनोविज्ञानीय तथ्य से अनुमान नहीं है वरन् तर्क द्वारा सन्देह में सन्देह करनेवाले की सत्ता, सोचने में सोचनेवाले या किसी विचार करने की क्षमता रखनेवाले आध्यात्मिक द्रव्य की सत्ता की स्थापना है। इस प्रकार वह अपनी दृष्टि में एक बुद्धिपरक और स्वयंसिद्ध बात तक पहुँच जाता है। सन्देह करने का अर्थ है सोचना और सोचने का अर्थ है होना। मैं सोचता हूँ इसलिए मेरी सत्ता है। "यह व्यवस्था पूर्वक चिंतन द्वारा मिलनेवाला प्राथमिक और सबसे निश्चित ज्ञान है।" इसी सिद्धान्त को तो हम ढूंढ़ रहे थे जो तत्वसमीक्षा (metaphysics) के लिए एक निश्चित और स्वयंसिद्ध प्रारम्भ बिन्दु है। इससे हमें सत्य की जाँच या कसौटी भी मिल जाती है। यह सिद्धान्त निरपेक्षितः निश्चित, सत्य, स्पष्ट और साफ तौर से दृष्टिगत है। अतएव मैं इसको एक सामान्य नियम की तरह स्वीकार कर सकता हूँ कि वह सब चीजें जिन्हें स्पष्टतया देखा जा सकता है सत्य हैं।

ईश्वर की सत्ता के प्रमाण

अब हमारे पास ज्ञान का स्वयंसिद्ध सिद्धान्त और कसौटी है। हम और क्या जान सकते हैं? जब तक हम एक धोखा देनेवाले ईश्वर की धारणा में पड़े रहेंगे तब तक किसी चीज के निश्चित होने में सन्देह बना ही रहेगा। हम अभी तक यह नहीं जानते आया कि ईश्वर है भी और वह धोखा नहीं देता। इस कठिनाई को दूर करना चाहिए। हमारे कुछ प्रत्यय (idea) तो जन्मजात (innate) मालूम पड़ते हैं; कुछ हमारे स्वकृत हैं और बहुत

से बाहर से ग्रहण कर लिए गए जान पड़ते हैं। कुछ प्रत्ययों (ideas) को हम जगत का कार्य (effect) या प्रतिरूप मानते हैं । किन्तु यह सब भ्रम हो सकता है। अनेक प्रत्ययों में से मेरे अन्दर ईश्वर का प्रत्यय भी है। कोई वस्तु शून्य से नहीं आ सकती। जिस वस्तु की सत्ता है उसकी सत्ता का कारण भी होना चाहिए; यह भी एक स्वयंसिद्ध बात है। फिर कारण को कम से कम कार्य (effect) के बराबर होना चाहिए; उसमें कार्य के बराबर वास्तविकता भी होनी चाहिए। जो चीज अपने आप में अधिक वास्तविकता रखती है वह अधिक पूर्ण होती है और एतदर्थ वह कम पूर्ण चीज का परिणाम या उस पर आधारित नहीं हो सकती। अतएव ससीम और अपूर्ण होने से मैं स्वयं अपने अन्दर ईश्वर का प्रत्यय (idea), जो पूर्णता और असीमता का प्रत्यय है, होने का कारण नहीं हो सकता। अतएव इस प्रत्यय को मेरे अन्दर कोई असीम चीज या ईश्वर ही उत्पन्न कर सकता है और ईश्वर की सत्ता होनी चाहिए। ईश्वर की सत्ता का यह प्रमाण ऐनसेल्म का सत्तामूलक प्रमाण (ontological proof) न होकर हमारी पूर्णता युक्त सत्ता की धारणा पर अवलम्बित कारण मूलक प्रमाण (causal proof) है। इस बात का तर्क नहीं दिया गया है कि इस प्रकार की सत्ता इसलिए है क्योंकि हमें उसकी धारणा होती है वरन् ऐसी सत्ता के ज्ञान में ज्ञाता से बड़ी सत्ता, इस धारणा के आधार के तौर पर, अनिवार्य रूप से निहित है।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि असीम की धारणा केवल अभावात्मक या पूर्णता से इनकार करना है। ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि देकार्त के अनुसार ससीम की धारणा में असीम या ईश्वर निहित है। यदि मेरे अंदर मुझसे अधिक पूर्ण सत्ता की धारणा न होती तो मैं सन्देह या इच्छा कैसे कर सकता, मैं किससे तुलना करके अपनी प्रकृति के दोषों का पता लगा सकता ? सन्देह में सत्य का और अपूर्णता में पूर्णता का एक मापदण्ड निहित है।

फिर मैं स्वयं अपनी सत्ता का कारण नहीं हो सकता क्योंकि मुझमें पूर्णता का प्रत्यय (idea) है। यदि मैं अपना निर्माता स्वयं होता तो मैं अपने को पूर्ण बनाता और सदा सुरक्षित रखता जैसा कि नहीं है। यदि मेरे माता-पिता ने मुझे बनाया होता तो वे भी मुझे सुरक्षित रख सकते किन्तु यह असम्भव है। अन्त में ईश्वर की पूर्णता की धारणा से ही उसकी सत्ता का अनुमान होता है। ईश्वर को बिना उसकी सत्ता के या निरपेक्षित भाव से पूर्ण को पूर्णतारहित मानना मेरी शक्ति में नहीं है। यह ऐनसेल्म

और अगस्टाइन द्वारा प्रयुक्त सत्तामूलक प्रमाण (ontological proof) है।

मैं जिन स्वर्गिक पूर्णताओं की धारणा रखता हूँ उनका एक से अधिक कारण होगा यह नहीं सोचा जा सकता, क्योंकि यदि कारण अनेक हों तो वह पूर्ण नहीं हो सकते। पूर्ण होने के लिए एक ही कारण, एक ही ईश्वर, होना चाहिए। ईश्वर को स्वयंभू होना चाहिए क्योंकि यदि वह किसी अन्य सत्ता का कार्य (effect) हो तो वह सत्ता किसी अन्य का कार्य (effect) होगी; इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा और हम किसी कार्य (effect) तक नहीं पहुँच सकेंगे।

ईश्वर का प्रत्यय (idea) मुझे ईश्वर से मिला है, वह जन्म जात (innate) है। ईश्वर हमारी सत्ता का कारण ही नहीं वरन् उसकी मौलिकता (archetype) भी है। उसने हमें अपनी ही प्रतिमूर्त्ति में बनाया है। इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ईश्वर ने मुझे बनाते समय पूर्णता का प्रत्यय (idea) मेरे अन्दर रख दिया जिस प्रकार कुशल कारीगर अपने काम में अपनी छाप छोड़ देता है। यदि ईश्वर की सत्ता न होती तो शायद मैं वह न होता जो हूँ और मुझे ईश्वर का प्रत्यय (idea) भी न होता। हम ईश्वर और मानवी मनस् के बारे में मूर्त वस्तुओं से अधिक जानते हैं। ईश्वर के प्रत्यय (idea) पर विचार करने से हमें पता लगता है कि वह शाश्वत, सर्वज्ञ, सर्वगत, सारे सत्य और भलाई का उद्गम और सब वस्तुओं का निर्माता है। वह मूर्त नहीं है और हमारी तरह इन्द्रियों से अनुभूति नहीं करता। उसमें भी बुद्धि और संकल्प (will) है, किंतु हमारी तरह नहीं। वह पाप या बुराई नहीं चाहता क्योंकि पाप सत्ता का अभाव करना है। शास्त्रीयतावाद (scholasticism) में हम इसी ईश्वर-वादी (theistic) स्थिति से परिचित हो चुके हैं। देकार्त डन्स स्कॉटस की भाँति बुद्धि को वहीं तक स्वीकार करता है जहाँ तक वह श्रुति के विरोध में नहीं आती। वह डन्स की भाँति यह भी मानता है कि ईश्वर जगत की व्यवस्था बदल सकता था; अच्छी चीज अच्छी इसलिए है कि ईश्वर ने उसे वैसा बनाया है; वह उसे उसके अच्छे होने के कारण वैसा नहीं बनाता।

सत्य और भ्रम

अब तक हमने कुछ स्वयंसिद्ध सत्यों की खोज की है : मेरी सत्ता है; स्पष्ट और साफ तौर से देखी गई बात सत्य होती है; हरेक बात का कारण होता है; कारण में कम से कम कार्य (effect) के बराबर पूर्णता और वास्तविकता होनी चाहिए; ईश्वर की सत्ता है; ईश्वर पूर्ण है; ईश्वर हमें धोखा नहीं दे सकता। किन्तु फिर भी हमें धोखा हो कैसे जाता है, हम गलती कर

क्यों बैठते हैं ? पहले तो ईश्वर द्वारा दी गई सत्य और असत्य में विवेक करने की हमारी शक्ति असीम नहीं है। भ्रम दो कारणों की संगामिता पर निर्भर है, एक तो पहचानन की शक्ति और दूसरी निर्वाचन शक्ति या स्वतंत्र तरह से चुनने की शक्ति, जैसे समझ और संकल्प। मैं केवल समझ से ही किसी चीज को स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता वरन् प्रत्ययों (ideas) को पकड़ता हूँ, उनके बारे में मैं कोई निर्णय बना सकता हूँ। इसमें कोई भ्रम नहीं हो सकता। संकल्प (will) अपनी तरह से अत्यधिक पूर्ण होने से अपने आप में भ्रम का मूल नहीं हो सकता। जब मैं अपने संकल्प (will) को पर्याप्त स्पष्टता से न दिख सकने वाली वस्तु पर निर्णय करने से नहीं रोक असकता तो मेरी इस असफलता से भ्रम होता है। संकल्प (will) द्वारा अच्छे की जगह बुरा और सत्य की जगह असत्य बात को चुनने से भ्रम और पाप होता है।

वाह्य जगत

वाह्य जगत की समस्या पर भी विचार करना चाहिए। हम पदार्थों की अपने से बाहर होने की कल्पना करते हैं। हम उनकी वास्तविक सत्ता कैसे जान सकते हैं ? हमें सुख दुख, इच्छा और संवेदन (sensation) की अनुभूति होती है जिसे हम स्वभावतः शारीरिक कारणों से उद्दिष्ट करते हैं। किंतु चूंकि शारीरिक कारण हमें अक्सर धोखा देते हैं अतएव उनके अनुभव से हम पदार्थों की सत्ता की सिद्धि नहीं कर सकते। फिर भी क्योंकि हम स्वयं इन अवस्थाओं को उत्पन्न नहीं करते इसलिए वे या तो ईश्वर द्वारा या वाह्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न होती हैं। यदि वे ईश्वर द्वारा उत्पन्न होती हैं तो हमें धोखा दिया गया है—क्योंकि हम यह नहीं जानते कि उनका कारण ईश्वर ह—और ईश्वर धोखेबाज है। जैसा कि हम देख चुके हैं ईश्वर धोखेबाज न होकर एक सत्यतापूर्ण सत्ता है और इसलिए हमारे संवेदनों (sensations) को वास्तविक पदार्थों द्वारा ही उत्पन्न होना चाहिए।

तो पदार्थ क्या है ? पदार्थों की हमारे विचार करने से स्वतंत्र सत्ता है। पदार्थ अपनी सत्ता के लिए हमारी सत्ता की अपेक्षा नहीं रखते। इस प्रकार की स्वतंत्र वस्तु को द्रव्य (substance) कहा जाता है। द्रव्य का अर्थ वह चीज है जो अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य वस्तु की सत्ता की अपेक्षा नहीं रखती। वास्तविक रूप से ऐसी सत्ता एक ही है और वह है ईश्वर की सत्ता जो परम् अर्थ में द्रव्य है। इसलिए एक तो निरपेक्ष द्रव्य ईश्वर है और दो सापेक्ष द्रव्य हैं मनस् और शरीर जो अपनी सत्ता के लिए परस्पर स्वतंत्र होते हुए भी ईश्वर पर अवलम्बित हैं। परस्पर ये दोनों मूलतः विभिन्न हैं और हम उनको

केवल उनके विशेषणों (attributes) द्वारा ही जानते हैं। द्रव्य (substance) में आवश्यक रूप से निहित होनेवाली विशेषता या गुण विशेषण (attribute) कहलाती है। विशेषण द्रव्य का वह गुण है जिसके बिना द्रव्य की सत्ता नहीं हो सकती या उसके बारे में सोचा नहीं जा सकता। विशेषण की अभिव्यक्ति अनेक ढंगों या प्रकारों (modes) से हो सकती है। द्रव्य और विशेषण को तो प्रकारों (modes) के बिना सोचा जा सकता है किंतु प्रकारों (modes) को द्रव्य या विशेषण के बिना नहीं सोचा जा सकता। हम आकृति को बिना प्रपंच (extension) के, गति को प्रपंचित प्रसर (extended space) के, कल्पना, संवेदन (sensation) या संकल्प (will) को बिना किसी विचार करनेवाली वस्तु के नहीं सोच सकते। दूसरी ओर हम प्रपंच (extension) को बिना आकृति या गति के और बुद्धि को बिना कल्पना या संवेदन के सोच सकते हैं। द्रव्य अपने विशेषण नहीं बदल सकता किंतु प्रकारों (modes) को बदल सकता है। कोई वस्तु सदा प्रपंचित (extended) ही होगी किंतु हो सकता है कि उसकी आकृति सदा एक सी न हो। ईश्वर में परिवर्तन न होने से प्रकार (modes) भी नहीं हैं।

फिर वस्तुएँ जैसी हैं हैं क्या? पदार्थों में हम जो कुछ स्पष्टतया देखते हैं वह पदार्थ के प्रधान विशेषण (attributes) ही होते हैं। शब्द, रंग, स्वाद, गन्ध, गर्मी और सर्दी पदार्थों के विशेषण नहीं हैं। हम उनकी स्पष्ट धारणा नहीं रखते। वे अस्पष्ट ह। हमें जिस चीज का संवेदन (sensation) होता ह वह पदार्थ की सच्ची वास्तविकता नहीं है। पदार्थ का विशेषण (attribute) प्रपंच (extension) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पदार्थ और प्रपंच में तादात्म्य (identity) है। प्रपंच लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई है अतएव प्रपंच (extension) और प्रसर (space) गें तादात्म्य (identity) है। हरेक पदार्थ प्रसर (space) में सीमित है। अतएव शून्य प्रसर कोई चीज नहीं है। जहाँ प्रसर है वहाँ पदार्थ भी हैं। प्रसर असीमित रूप से विभाज्य है। प्रसर के परम् खण्ड (ultimate parts) नहीं हैं अतएव परमाणु नहीं हैं। पदार्थ के सूक्ष्मतर खण्डों को भी विभाजित किया जा सकता है; वे परमाणु नहीं हैं वरन् आज की भाषा में कहे जाने वाले कण (molecules) हैं। प्रपंच (extension) कहीं रुक नहीं सकता : मूर्त जगत असीम है। वाह्य जगत के सारे व्यापार प्रपंच के प्रकार (mode) हैं। प्रपंच के विभाजन का अन्त नहीं हो सकता। खण्ड मिल सकते हैं और अलग किए जा सकते हैं जिससे पुद्गल (matter) के अनेक रूप उत्पन्न होते हैं। पुद्गल की अनेकरूपता या रूपविभिन्नता गति (motion) पर निर्भर है। गति वह क्रिया है जिससे

कोई पदार्थ स्थानान्तरित होता है। गति गतिशील वस्तु का प्रकार (mode) है, द्रव्य नहीं। सारी घटनाएँ प्रसर में गति का स्थानान्तरण हैं। "गति पुद्गल (matter) या पदार्थ के किसी खण्ड का अपने समीपवर्ती सम्पर्क में रहने वाले या जिन्हें हम स्थिर मानते हैं उन पदार्थों के क्षेत्र से दूसरे पदार्थों के क्षेत्र में निर्वासन है।" भौतिक जगत की यांत्रिक (mechanical) व्याख्या की गई है। कोई क्रिया दूरगत नहीं है। सारी घटनाएँ दबाव और संघर्षण (impact) द्वारा होती हैं। अतएव खगोल विद्या (astronomy) के तथ्यों की व्याख्या के लिए एक सार्वभौम आकाश (ether) होना चाहिए।

पदार्थ केवल प्रपंच रूप से निष्क्रिय है और अपने को गतिशील नहीं बना सकता। अतएव हमें जगत में सर्वप्रथम गति (motion) का कारण ईश्वर को मानना चाहिए। "ईश्वर ने ही गति और अगति के साथ साथ पुद्गल (matter) का निर्माण किया और अब अपने संगम से सम्पूर्ण में गति की उतनी ही मात्रा को बनाए हुए है जितनी उसने दी थी।" प्रथम कर्त्ता (priem mover) की यह धारणा देकार्त और उसके बाद तक प्रचलित थी। गैलिलियो और न्यूटन ने भी इसे माना था। यह अरस्तू की पुरानी धारणा है। जगत में ईश्वरीय विघ्न डालना यांत्रिक (mechanistic) धारणा को त्याग कर शास्त्रीयतावाद (scholasticism) में पलायन करना होगा, अतएव देकार्त के मत से ईश्वर ने जगत को गति की एक निश्चित मात्रा दी है; गति स्थाई है। यहाँ हमें बीज रूप से शक्ति के स्थायित्व (conservation of energy) की धारणा मिलती है। पदार्थ स्वयं न तो गति उत्पन्न कर सकते हैं और न उसे रोक सकते हैं; इसलिए वे शक्ति को घटा बढ़ा भी नहीं सकते जिससे गति और अगति की मात्रा स्थाई हो जाती है।

चूंकि ईश्वर कूटस्थ है इसलिए पदार्थों के जगत में सारे परिवर्तन कुछ अटल प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होने चाहिए। प्रकृति के सारे नियम गति के नियम हैं। खण्डों के अलग अलग सम्बन्धों से ही पदार्थों में विभिन्नता है। खण्ड ठोस पदार्थों में मिलकर अचल हो जाते हैं और तरल पदार्थों में गतिशील रहते हैं।

मनस् और शरीर

मनस् शरीर के सर्वथा विपरीत है। पदार्थ का विशेषण (attribute) प्रपंच (extension) है : पदार्थ निष्क्रिय हैं; मनस् का विशेषण विचार करना है। मनस् क्रियाशील और स्वतंत्र है। दोनों द्रव्य (substance) बिल्कुल असमान हैं : मनस् में प्रपंच (extension) नहीं है और पदार्थ विचारशील नहीं है।

हम मनस् या आत्मा को बुद्धि के बिना नहीं सोच सकते। आत्मा विचार शक्ति (res cogitans) है। मुझे अपना स्पष्ट और साफ प्रत्यय है कि मैं केवल एक विचारशील और अप्रपंचित (unextended) चीज हूँ। अतएव यह निश्चित है कि मैं या मेरा मनस्, जिसके द्वारा मैं वह हूँ जो हूँ, मेरे शरीर से बिल्कुल भिन्न है और उसके बिना भी सत्ता रख सकता है। मैं कल्पना और प्रत्यक्ष के बिना भी अपनी सत्ता को स्पष्ट रूप से देख सकता हूँ किन्तु कल्पना और प्रत्यक्ष को मैं बिना अपने या किसी बौद्धिक द्रव्य के, जिसमें वे रहें, नहीं सोच सकता। कल्पना और प्रत्यक्ष मुझसे उसी प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार विशेषण (attributes) पदार्थों से। हम साफ तौर से देख सकते हैं कि बुद्धि के सिवा प्रपंच (extension), आकृति, स्थानीय गति या पदार्थों पर आरोपित होने वाली उन्हीं जैसी कोई चीज हमारी प्रकृति नहीं है। और इसलिए हम अपने मनस् की जो धारणा रखते हैं वह किसी भी मूर्त पदार्थ के पहले होती है और अधिक निश्चित होती है। पदार्थ को देखते हुए भी हम उसकी सत्ता में सन्देह कर सकते हैं जबकि हम जानते हैं कि हम सोचते हैं।

इस अतिशय द्वैत में देकार्त को जो बात विशेष आकर्षित करती है वह यह है कि इस द्वैत ने प्रकृति को प्राकृतिक विज्ञानों की यांत्रिक (mechanical) व्याख्या करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया। मनस् को प्रकृति से अलग करके उसको एक स्वतंत्र क्षेत्र दे दिया गया। भौतिक विज्ञान को अपने ढँग से चलने की आज्ञा मिल गई, उसके क्षेत्र से सब लक्ष्यात्मक कारणों (final causes) को वहिष्कृत कर दिया गया। जिस प्रकार शास्त्रीय (scholastic) दर्शन में ईश्वरवाद (theology) और दर्शन (philosophy) में भेद किया जाता था उसी प्रकार अब मनस् और शरीर में किया जाने लगा। देकार्त इस शिक्षा को सारे आवयविक (organic) जगत, मानवी शरीर पर भी, लागू करता है। पशु शरीर की भाँति मानवी शरीर भी एक मशीन है। हृदय की गर्मी ही उसमें गति (motion) का सिद्धान्त है, पुट्ठे गति के माध्यम हैं, नसें संवेदनों (sensations) का माध्यम हैं। प्राणगति हृदय के रक्त में शुद्ध होकर धमनियों द्वारा मस्तिष्क में चढ़ती है और तब नसों और पुट्ठों में जाती है। इस शारीरिक मशीन में सब क्रियाएँ अवयवों की व्यवस्था के कारण स्वभावतः उसी प्रकार होती रहती हैं जिस प्रकार घड़ी अपने कल पुर्जों की बनावट के बल पर चलती रहती है। शरीर में सिवाय रक्त और प्राण के सुकुमार आत्मा (sensitive soul) या प्राणभूत गति (vital motion) के किसी अन्य सिद्धान्त को मानना आवश्यक नहीं है। देकार्त शास्त्रीय (scholastic) विचारकों और अरस्तू के प्राणभूततावाद (vitalism) का

खण्डन कर आवयविक (organic) प्रकृति की बिल्कुल यांत्रिक (mechanical) धारणा पेश करता है।

यदि यह दोनों द्रव्य परस्पर भिन्न हैं तो उनमें कोई अन्तर्क्रिया नहीं हो सकती। मनस् शरीर में और शरीर मनस् में परिवर्तन नहीं ला सकता। देकार्त अपने वाक्यों (premises) से कोई परिणाम नहीं निकालता। कुछ ऐसे तथ्य हैं जो मनुष्य में मनस् और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के सूचक हैं : भूख, प्यास, मनस् का आवेग और क्षुब्धता; दुख का संवेदन, रंग, प्रकाश, शब्द इत्यादि बिल्कुल मानसिक नहीं हैं। इनका कारण हम न तो सिर्फ शरीर को और न ही सिर्फ मनस् को मान सकते हैं वरन् उनकी व्याख्या मनस् और शरीर के घनिष्ठ मेल से ही कर सकते हैं। इनका मेल केवट और नौका सा नहीं है। मेरा मनस् (mind) और मेरा शरीर एक द्रव्यात्मक (substantial) मेल है। अभी बताए गए सारे संवेदन (sensations) इस मेल के फल चेतनता के अस्पष्ट प्रकार (modes) हैं। मनुष्य शुद्ध स्पिरिट नहीं है। पशुओं में और अक्सर हमारे अन्दर गति बुद्धि की दखल के बिना ही होती है। वाह्य वस्तुओं द्वारा उत्तेजित इन्द्रियाँ प्राण पर प्रतिक्रिया करती हैं और यह प्रतिक्रिया यांत्रिक (mechanical) होती है--पशु सिर्फ एक मशीन हैं--किंतु मानवी संवेदनों के साथ ऐसा नहीं हैं। यदि मैं केवल विचारशील सत्ता ही होता, यदि मेरी आत्मा किसी प्रकार मेरे शरीर से सम्बद्धित न होती तो मुझे भूख का ज्ञान ही होता उसकी अनुभूति नहीं। मझमें इस तरह के चेतनता के अस्पष्ट प्रकार (modes) नहीं होते।

किन्तु इस मेल को कैसे समझा जाय यह स्पष्ट नहीं किया गया है। देकार्त हमें मनस् को शरीर और शरीर को मनस् समझ बैठने से सावधान करता है। वह हमें यह बताता है कि बुद्धि और प्रपंच (extension) मनुष्य में मिश्रित एकता की भाँति रह सकते हैं किंतु उनकी प्रकृति एक नहीं होती। उनके मेल की तुलना दो पदार्थों के मिश्रण से नहीं करनी चाहिए। देकार्त के मत से "बुद्धि अवयवों (organs) की उत्पत्ति न होते हुए भी उनके द्वारा उत्पन्न हो सकती है।" संवेदन (sensation), अनुभूति और इच्छाएँ आत्मा का शरीर से मेल होने की अवस्था हैं। इस मेल के बावजूद भी वह पृथक रहते हैं। ईश्वर ने उनको मिलाया है, वह उनको अलग करने या एक को दूसरे से रक्षित रखने की शक्ति को नहीं छोड़ सकता। यहाँ शायद देकार्त का यह अभिप्राय है कि मनस् और शरीर का सम्बन्ध ऐसा नहीं है जिसमें कोई शारीरिक अवस्था मानसिक अवस्था हो जाती है या मानसिक अवस्था को उत्पन्न करती है। मनस् आवयविक (organic) व्यापारों से उत्पन्न

मात्र ही होता है। देकार्त यहाँ पर अस्पष्ट और अस्थिर इसलिए है कि वह मूर्त जगत की व्याख्या शुद्ध यांत्रिक (mechanical) सिद्धान्तों से करते हुए भी आध्यात्मिक स्द्धिान्त को स्थान देना चाहता था। अनुभव के तथ्यों से दोनों जगतों में जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वह देकार्त के स्पष्ट रूप से किए गए भेद के अनुसार असंभव है।

अन्य स्थानों पर देकार्त निस्संकोच अन्तर्क्रिया की कारणमूलक धारणा (causal theory) को स्वीकार कर लेता है। आत्मा सारे शरीर से सम्बद्धित होने पर भी अपने कामों को खास तरह से करती है। उसका मुख्य स्थान मस्तिष्क में त्रिकुटी (pineal gland) है। प्राणियों में गति दृश्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न होती है जो त्रिकुटी (pineal gland) में परावर्तित होती है और इस तरह संवेदन उत्पन्न होते हैं। आत्मा ग्रन्थि (gland) को भी अनेक तरह से गतिमय कर सकती है। यह गति (motion) प्राण में परावर्तित होकर पुट्ठों और नसों में जाती है। यहाँ मनस् और शरीर का सम्बन्ध स्पष्टतया कारणमूलक (causal) माना गया है : त्रिकुटी (pineal gland) की मध्यस्थता से मनस् और शरीर में एक निश्चित अन्तर्क्रिया हो जाती है।

मनोवेग (Emotion)

देकार्त के अनुसार आत्मा अनेक शक्तियों का समूह न होकर अपने को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करनेवाला एक ही सिद्धान्त है। आत्मा ही अनुभूति, तर्क और संकल्प करती है। वह आत्मा के सक्रिय और निष्क्रिय पक्ष में भेद करता है जिन्हें वह आत्मा की क्रियाएँ (actions) और भाव (passions) कहता है। हमारे संकल्प और इच्छित कार्य आत्मा की क्रियाएँ हैं जोआत्मा पर ही निर्भर हैं। मैं संकल्प करने, ईश्वर से प्रेम करने या शुद्ध बौद्धिक क्रिया करने या अपनी कल्पना का संसार बनाने और शरीर को गतिमय करने में स्वतंत्र हूँ। आत्मा के भाव (passions) हैं संवेदन (sensations) और उनकी प्रतिमूर्त्ति, हमारी इच्छाएँ, दुख, गर्मी और अन्य शारीरिक अनुभूतियाँ जिन्हें हम या तो वाहच वस्तुओं या शरीर से उद्दिष्ट करते हैं। इच्छित या सक्रिय अवस्थाएँ सर्वथा आत्मा के अधिकार में हैं और शरीर से अप्रत्यक्ष रूप से ही परिवर्तित हो सकती हैं। निष्क्रिय अवस्थाएँ अपने शारीरिक कारणों पर निर्भर हैं और आत्मा से अप्रत्यक्षतः ही परिवर्तित की जा सकती हैं, सिर्फ उन दशाओं को छोड़कर जहाँ आत्मा ही उनका कारण हो। अन्य अवस्थाएँ या "प्रत्यक्ष" भी हैं "जिनका प्रभाव हम आत्मा में ही देखते हैं।" यह हर्ष, क्रोध आदि की भावनाएँ हैं जो सही अर्थ में भाव (passions) हैं। वे आत्मा

के प्रत्यक्ष या भावनाएँ या मनोवेग (emotions) हैं जिन्हें हम आत्मा में ही आरोपित करते हैं और जो प्राण की कुछ क्रियाओं से उत्पन्न होते और समर्थन और बल पाते हैं । इन भावों (passions) का मुख्य काम या कार्य (effect) आत्मा को उन चीजों का संकल्प कराना है जिनके लिए वे शरीर को तैयार करते हैं : डर भागने के और साहस लड़ने के संकल्प को जाग्रत करता है । भावों (passions) का तत्कालीन कारण प्राण की गतिशीलता है जो त्रिकुटी (pineal gland) को उत्तेजित करती है । किंतु वे कभी कभी आत्मा की सक्रियता द्वारा भी उत्पन्न हो सकते हैं जो किसी न किसी वस्तु की धारणा बनाती है। इस तरह मैं स्थिति का विश्लेषण करके अपने अन्दर साहस की अनुभूति पैदा कर सकता हूँ।

प्राकृतिक इच्छाओं और संकल्प (will) का तथाकथित विरोध त्रिकुटी (pineal gland) में शरीर का अपनी स्पिरिट द्वारा और आत्मा का संकल्प द्वारा एक साथ उत्तेजित की गई गतियों का विरोध है। ऐसे विरोधों से प्राप्त नतीजों से हरेक अपनी आत्मा की शक्ति या कमजोरी देख सकता है। किंतु आत्मा इतनी दुर्बल नहीं होती कि अच्छी तरह संचालित होने पर भी अपने भावों (passions) पर पूरी शक्ति न पा सके। आत्मा की शक्ति ज्ञान के बिना अधूरी है ।

देकार्त ने छह मुख्य भाव (passions) माने हैं : आश्चर्य ,प्रेम, घृणा, चाह, प्रसन्नता और दुख। शेष सब इन्हीं की उपजाति हैं। वह सब शरीर से सम्बन्धित हैं। उनका प्राकृतिक काम आत्मा को शरीर की रक्षा करने या उसे किसी तरह पूर्ण बनाने वाले कामों की ओर प्रवृत्त करना है। इस अर्थ म प्रसन्नता और दुख सर्वप्रथम हैं क्योंकि आत्मा दुख के भावों (passions) को उत्पन्न करने वाली दुख की अनुभूति से हानिकारक वस्तुओं की ओर से हट जाती है। इसके बाद दुख के कारण से घृणा और दुख से बचने की इच्छा होती है।

अच्छा और बुरा मुख्यतया आत्मा के आन्तरिक मनोवेगों (emotions) पर निर्भर है जो आत्मा द्वारा ही उत्तेजित होते हैं। जब तक आत्मा के अन्दर उसको सन्तुष्ट करनेवाली चीज रहती है तब तक बाहरी बातों से उसे आघात नहीं पहुँचता। इस आन्तरिक सन्तोष को पाने के लिए सद्‌गुणों का ठीक तरह से अनुसरण करना अनिवार्य है। यहाँ हम देकार्त के आचार दर्शन (ethics) पर सुखापेक्षियों (Stoics) के प्रभाव को देखते हैं। पुनरुत्थान काल (Renaissance) में सुखापेक्षवाद (Stoicism) प्रचलित आचारीय (ethical) धारणा थी जो आधुनिक काल में भी एक समय तक चलती रही।

बेकन ने मानसिक अवस्थाओं की एक यांत्रिक (mechanical) धारणा बनाई थी और हॉब्स ने यंत्रविद्या (mechanics) को अपने जगत विषयक सारे दृष्टिकोण का आधार बनाया था। देकार्त ने यांत्रिक धारणा को हमारे मानसिक जीवन के बहुत बड़े भाग पर उपयोजित करने का प्रयास किया है। किंतु वह इस प्रकार हमारे सारे मानसिक व्यापारों की व्याख्या नहीं करता । मनस् स्वयं एक तत्व है जिसमें समझ और संकल्प शक्ति है। देकार्त द्वारा बताए गए सारे 'प्रत्यक्ष'--संवेदन, इच्छाएँ, मनोवेग--मानसिक अवस्थाएँ हैं, गति नहीं : कुछ भाव (passions) बिल्कुल मानसिक हैं और आवयविक (organic) क्रियाओं से उत्पन्न नहीं होते। संकल्प (will) शारीरिक अवस्थाओं से स्वतन्त्र है और स्वयं ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न कर सकता है। संकल्प (will) स्वतंत्र हैं और आत्मा का आचारीय आदर्श अपने को वाह्य प्रभावों से स्वतंत्र और सूत्र को अपने ही हाथ में रखना है।

जन्मजात प्रत्यय (innate idea)

देकार्त का लक्ष्य निश्चित और स्पष्ट ज्ञान तक पहुँचना है। यह निश्चितता तब आती है जब हम यह निर्णय कर लेते हैं कि वस्तु को जिस प्रकार हम देखते हैं उसका उससे कुछ अलग हो सकना असम्भव है। इस प्रकार का अनिवार्य ज्ञान हमें गणित के प्रदर्शनों में मिलता है और यदि उचित प्रणाली अपनाई जाय तो दर्शन में भी मिल सकता है। कुछ सत्य स्पष्ट देख लिए जाते हैं, यद्यपि सबके द्वारा नहीं। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ हमें ज्ञान की तथ्यता या वह क्या है इसको न बताकर हमारे ऊपर उसके प्रभाव को को ही बताती हैं। रंग, शब्द, स्वाद, गन्ध पदार्थ में नहीं होते। वास्तविक पदार्थ क्या है, इन्द्रियों द्वारा आरोपित गुणों से पृथक वह क्या है, यह हम स्पष्ट चिंतन से ही जान सकते हैं। यदि हम इन्द्रियानुभूति से वास्तविक ज्ञान नहीं पा सकते, यदि सच्चा ज्ञान कुछ आधारभूत सिद्धान्तों और धारणाओं पर तर्क करने का परिणाम है तो इन धारणाओं को मनस् में निहित, जन्मजात और प्रागनुभव (a priori) होना चाहिए। मनस् को ज्ञान का मार्ग दिखानेवाले उसके अपने आदर्श होते हैं। ज्ञान के सिद्धान्त अनुभव होने पर ही पता चल सकते हैं या मनस् की बौद्धिक क्रियाओं में ही अभिव्यक्त होते हैं किंतु वे मनस् में रहते सदा से हैं। देकार्त की आधारभूत धारणा यह है कि बुद्धि के प्राकृतिक आदर्श होते हैं; किंतु उनकी उपस्थिति कैसे रहती है इस विषय में वह अनिश्चित और अस्थिर है। जन्मजात (innate) ज्ञान से कभी तो उसका अर्थ मनस् पर अंकित होते रहने वाले या आत्मा का अपने में पानेवाले सिद्धान्तों से है और कभी अनुभव में उस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली आत्मा की आत्मशक्ति से है।

जन्मजात प्रत्ययों के प्रति लॉक द्वारा किए गए विरोध से इस समस्या को अधिक स्पष्टता और निश्चितता मिली जिससे लाइबनित्स और कांट को बुद्धिवाद में इसी बात को नए ढँग से रखने को विवश होना पड़ा।

देकार्त के बुद्धिवाद (rationalism) और प्रागनुभवतावाद (a priorism) ने उसको अनुभव की ओर अधिक ध्यान देने में कोई बाधा नहीं डाली। उसने ज्ञान की कोई व्यवस्थित धारणा नहीं बनाई। उसकी रुचि ज्ञान मीमांसा (epistemology) के लम्बे वाद-विवाद में न पड़कर सत्य की किसी प्रणाली की खोज करने में अधिक थी। सन्देहवाद (scepticism) का अध्ययन करने पर भी वह इस विश्वास में कट्टरवादी था कि तर्क से निश्चित ज्ञान मिल सकता है। वाह्य जगत की सत्ता में विश्वास करने से वह यथार्थवादी (realist) है। वाह्य जगत की सच्ची प्रकृति तर्कपरता से ही जानी जा सकती है।

—:०:—

५

देकार्त के उत्तराधिकारी

(Successors of Descartes)

समस्याएँ

देकार्त के दर्शन ने बहुत सी मुश्किलें पैदा कर दी थीं जिनको आनेवाली शतियों के विचारक सुलझाने में लगे रहे। यदि देकार्त की धारणा के अनुसार ईश्वर और प्रकृति दो अलग अलग वास्तविकताएँ हैं तो उन दोनों में कोई वास्तविक रिश्ता नहीं हो सकता। तब ईश्वर मनुष्य के मनस् पर अपने प्रत्यय (idea) की छाप नहीं डाल सकता और मनुष्य भी ईश्वर के बारे में कुछ नहीं जान सकता। इस बात की भी व्याख्या नहीं की जा सकती कि ईश्वर शुद्ध स्पिरिट होते हुए पुद्गल को गति कैसे देता है। देकार्त कभी कभी ईश्वर, आत्माओं और पदार्थों की द्रव्यात्मकता (substantiality) में भेद करके इन मुश्किलों से बचना चाहता है। ईश्वर ही वास्तविक द्रव्य (substance) है, शेष सब वस्तुएँ उस पर निर्भर हैं, उसके कार्य (effect) और उत्पत्ति हैं। इस व्यवस्था में निहित द्वैत को नाममात्र को दूर करने के लिए देकार्त स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद (pantheism) का मार्ग प्रशस्त कर देता है। ईश्वर और मनुष्य में एक इसी तरह का द्वैत मनुष्य में स्वतंत्र संकल्प (will) मानकर किया गया था, जो देकार्त ने किया है, जबकि वह अपने दर्शन से 'महान् रहस्य' की व्याख्या करने में असमर्थ था। फिर मनुष्य और प्रकृति या शरीर और मनस् के बीच भी एक खाई है। यदि शरीर और मनस् बिल्कुल भिन्न हैं तो उनमें कोई रिश्ता कैसे हो सकता है? देकार्त की मान्यताओं के आधार पर अन्तर्क्रिया (Interaction) का होना भी असम्भव है। फिर भी अन्तर्क्रिया को एक तथ्य मान लिया गया है। इसलिए यहाँ पर दो बाध हैं : शरीर और मनस् स्वतंत्र द्रव्य हैं फिर भी ईश्वर वास्तविक द्रव्य है और आत्माएँ और शरीर उसकी रचनाएँ हैं। मनस् और आत्मा विभिन्न द्रव्य होते हुए भी एक दूसरे पर क्रिया करते हैं। फिर यह भी प्रश्न उठाया गया है कि यदि पशुओं का शरीर मशीन है तो मानवी शरीर मशीन क्यों नहीं है?

नवीन दर्शन आधुनिक विज्ञान की यांत्रिक (mechanical) धारणा का जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, ईसाई धर्म द्वारा लाए गए आध्यात्मिक ईश्वरवाद (spiritualistic theology) और तत्वसमीक्षा (metaphysics) से सामञ्जस्य करने का एक प्रयत्न है। देकार्त की लगभग सभी मुश्किलें इसी सामञ्जस्य को स्थापित करने में उत्पन्न हुईं। उसके उत्तराधिकारियों का काम या तो उन मुश्किलों की ओर संकेत करना था या उनसे बचने के मार्ग ढूंढ़ना था। (१) प्रकृति की स्वतंत्र वास्तविकता न मानकर और निरपेक्षित प्रत्ययवाद (absolute idealism) की स्थापना कर (मैलेब्रांश) या (२) मनस् की स्वतंत्र वास्तविकता न मानकर और भौतिकवाद (materialism) को स्वीकार कर (हॉब्स, ल मैत्री और फ्रांसीसी भौतिकवादी) या (३) ईश्वर या प्रकृति को परम् द्रव्य मानकर (स्पिनोजा) और मनस् और पुद्गल (matter) को उस द्रव्य की अभिव्यक्ति मानकर इस द्वैत को दूर कर सकना सम्भव था। अन्तर्क्रिया (Interaction) की संभावना को अस्वीकार करके (सहचारवाद, parallelism) इस द्वैत को बनाए रखना भी सम्भव था। तत्व समीक्षा (metaphysics) की समस्याओं के अतिरिक्त ज्ञान की उत्पत्ति, प्रकृति और प्रणाली आदि प्रश्नों पर भी अधिक ध्यान देना अपेक्षित हो गया। अँग्रेजी अनुभववाद (empiricism) और फ्रांसीसी संवेदनवाद (sensationalism) ने इस काम में अग्रगण्य भाग लिया।

संयोगवाद (Occasionalism)

देकार्त के बहुत से उत्तराधिकारी (जिनमें रेगिस, १६३२-१७०७; डि ला फोर्ज; कार्डेम्वाय; क्लोबर्ग, १६२२-६५; बेकर १६३४-९८; और ज्यूलिक्स हैं। बेकर ने देकार्त के सिद्धान्तों पर भूतविद्या, जादू आदि अन्ध-विश्वासों को असिद्ध किया था। क्लोबर्ग के अनुसार आत्मा शरीर में गति उत्पन्न नहीं कर सकती किंतु उसका निर्देशन या संचालन कर सकती है, जैसे घुड़सवार अपने घोड़े का संचालन करता है। आँत्वायन आर्नोल्ड, जो जैनसेनवाद का अनुयायी था, ने भी देकार्त के दर्शन को स्वीकार किया था) अन्तर्क्रिया (interaction) की धारणा से इनकार करते हैं। वे शरीर-मनस् के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए ईश्वरीय संकल्प (will) का सहारा लेते हैं। मनस् और शरीर भिन्न हैं; संकल्प (will) पदार्थों को गति नहीं देता, दे भी कैसे सकता है? वह ईश्वरकृत वाह्य जगत में होने वाले ऐसे परिवर्तन का संयोग हैं। भौतिक घटनाएँ हमारे अन्दर प्रत्यय (idea) नहीं उत्पन्न कर सकतीं। वह तो केवल संयोगीय (occasional) कारण हैं। हमारे अन्दर प्रत्यय तो केवल ईश्वर ही पैदा करता है। इस मत को संयोगवाद (Occasionalism) कहते हैं। यह

सहचारवाद (parallelism) है जिसके अनुसार मानसिक और भौतिक में कारणमूलक संबंध नहीं होता वरन् वे सहचारी होते हैं। यहाँ हमें कारणवाद की उस आलोचना का बीज मिलता है जो ह्यूम के सन्देहवाद (scepticism) में परिणत हो गई ी। मानसिक कारण भौतिक कार्य (effect) और भौतिक कारण मानसिक कार्य (effect) कैसे उत्पन्न कर सकते हैं?

आर्नोल्ड ज्यूलिंक्स

ज्यूलिंक्स (१६२५-१६६९) इस मामले की व्याख्या कुछ और ही तरह से करता हैं। उसके मत से यह सच है कि हम भौतिक जगत पर और भौतिक जगत हम पर क्रिया नहीं कर सकते। हमारे संकल्प गति उत्पन्न करने का संयोग नहीं हैं और गति ईश्वर की विशेष क्रिया से उत्पन्न होने का संयोग नहीं है। ईश्वर ने मनस् और शरीर में कोई पूर्व स्थापित सामञ्जस्य भी नहीं रक्खा है। मैं क्या संकल्प करूँगा ईश्वर इसे जानता है यद्यपि मैं संकल्प करने में स्वतन्त्र हूँ। ईश्वर के इसी ज्ञान के अनुसार पूरे जगत की व्यवस्था हुई है। "ईश्वर ने अपनी असीम समझदारी से गति के नियमों की स्थापना इस प्रकार की है कि कोई गति जो मेरे संकल्प और शक्ति पर कतई निर्भर नहीं है मेरे स्वतंत्र संकल्प से समावृत्त हो जाती है।" ज्यूलिंक्स ज्ञान की धारणा में भी देकार्त से भेद रखता है। हम वस्तुओं को उनके असली रूप में नहीं जान सकते। उनका ज्ञान केवल ईश्वर को ही है। हम तो अपने अहम् भर को ही जानते हैं।

प्रत्ययवाद (Idealism)

निकोलस मैलेब्रांश (१६३८-१७१५) देकार्त द्वारा उपस्थित समस्या को अन्य दृष्टिकोण से देखता है। वह 'जीसस की ऑरेटरी' का सदस्य था जहाँ अगस्टाइन के सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय थे और जहाँ लोग देकार्त के दर्शन में अत्यन्त रुचि रखने लगे थे। मैलेब्रांश का उद्देश्य धर्म और दर्शन, अगस्टाइन और देकार्त के मतों में सामञ्जस्य कराना था।

मैलेब्रांश का पूछना है कि यदि विचार गति से सर्वथा भिन्न है तो गति संवेदन (sensation) कैसे पैदा कर सकती है और मनस् वास्तविक प्रपंच (extension) को, यदि वह हो, कैसे देख सकता है? यह असम्भव लगता है। आध्यात्मिक वस्तुओं को आध्यात्मिक ढँग से ही समझा जा सकता है। कोई वस्तु अपनी सदृश वस्तु को ही जान सकती है। हम जो कुछ देखते हैं वह वास्तविक जगत या प्रपंच (extension) नहीं है वरन् प्रत्ययों (ideas)

की दुनियाँ है, समझ की दुनियाँ है, प्रात्ययिक प्रसर (ideal space) है। प्रत्यय (idea) ईश्वर में है और ईश्वर आध्यात्मिक विशेषण (attribute) रखनेवाली एक स्पिरिट है। कोई वास्तविक पदार्थ या सृजित प्रसर (created space) मनस् पर प्रभाव नहीं डाल सकता। केवल प्रात्ययिक (ideal) पदार्थ या पदार्थ का प्रत्यय (idea) ही मनस् पर प्रभाव डाल सकता है। हम सब वस्तुएँ प्रपंचित (extended) ईश्वर में नहीं वरन् विचारशील ईश्वर में देखते हैं, और जो चीज हम देखते हैं वह प्रत्यय (idea) है, प्रपंचित पौद्गलिक पदार्थ नहीं। यहाँ तक मैलेब्रांश का मत प्रत्ययवादी सर्वेश्वरवाद (idealistic pantheism) है और यदि वह यहीं रुक गया होता तो दर्शन के इतिहासकारों का उसको 'ईसाई-स्पिनोजा' कहना आंशिक रूप में न्याय संगत होता। वह किसी सार्वभौम द्रव्य को नहीं मानता किंतु सभी संभव वस्तुओं के प्रत्ययों (ideas) की धारणा करनेवाली एक परम् बुद्धि (Reason) को मानता है। भौतिक जगत अपरिचित है; उसकी सत्ता है या नहीं इसे मैलेब्रांश नहीं जानता। भौतिक जगत का प्रत्यय ही मेरे मनस् की प्रत्यक्ष चीज है, स्वयं पुद्गल (matter) नहीं। मैं जगत की सत्ता को बिना प्राकृतिक या दैवी श्रुति के नहीं जान सकता। "यदि ईश्वर ने सृजित जगत का ध्वंस कर दिया होता और मुझे उसी प्रकार प्रभावित करता रहता जैसे वह मुझे इस समय कर रहा है तो मैं उसी प्रकार देखता जैसा कि अब देख रहा हूँ और मैं यह विश्वास करता कि इस (सृजित) जगत की सत्ता है क्योंकि यह जगत मेरे मनस् पर क्रिया नहीं करता।" हम श्रुति के बल पर ही इस जगत की सत्ता में विश्वास करते हैं। यदि मैलेब्रांश हमसे विमुख इस अपरिचित प्रतिजगत को स्वीकार न करता तो उसका मत सर्वेश्वरवाद (pantheism) तो होता किंतु वह प्रत्ययवादी सर्वेश्वरवाद (idealistic pantheism) ही होता, स्पिनोजा का मत नहीं।

कारण की समस्या पर मैलेब्रांश का वाद विवाद बाद में ह्यम द्वारा की गई आलोचनाओं से समता रखता है जिसने फ्रांसीसी प्लेटोवादी (मैलेब्रांश) की धारणा का परीक्षण किया था। वाह्य और आन्तरिक अनुभव से हम कारण और कार्य (effect) के सम्बन्ध की अनिवार्यता सिद्ध नहीं कर सकते: इस तरह के अनिवार्य सम्बन्ध को हम तर्क के आधार पर ही मानते हैं; सार्वभौम सत्ता में कारण की अनिवार्यता की धारणा निहित है।

रहस्यवाद (Mysticism)

प्रतिभाशाली गणितज्ञ और भौतिक विज्ञानी ब्लेज पैस्कल (१६२३-१६६२) में रहस्यवाद (mysticism) का सन्देहवाद (scepticism)

के साथ आंशिक मेल हुआ है। पैस्कल पोर्ट रॉयल के जैन्सेनवादियों से सहानुभूति रखता था। जैन्सेनवाद अगस्टाइन के मत से प्रभावित कैथालिक चर्च के अन्दर एक सुधार आन्दोलन था। पैस्कल ने देकार्त के द्वैतवाद को उसकी प्रकृति की यांत्रिक (mechanical) धारणा के साथ स्वीकार किया था। उसने कुछ मुख्य सिद्धान्तों की सच्चाई को भी माना था जैसे प्रसर, काल, गति, संख्या, पुद्गल (matter) आदि की सत्ता। किंतु वह इन परम् बातों का ज्ञान हमारी शक्ति के बाहर मानता था हम न तो वस्तुओं के आधार और न ही उनके लक्ष्य को जानते हैं। हम ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता का प्रदर्शन नहीं कर सकते। दार्शनिकीय प्रमाणों से हम शायद सत्य के ईश्वर तक पहुँच जाँय किंतु प्रेम के ईश्वर तक कभी नहीं पहुँच सकते। अतएव तर्क सन्देह में समाप्त होता है और हमारी गम्भीरतम् बातों तक आते आते हमें भँवर में छोड़ देता है, किन्तु धार्मिक अनुभूति में हम ईश्वर का साक्षात् अनुभव और शांतिलाभ करते हैं। 'हृदय के अपने तर्क हैं जिन्हें बुद्धि नहीं जानती।' चूंकि हर प्राकृतिक बात—मानवी प्रकृति और समाज—पापमय और भ्रष्ट है, हमारा उद्धार दैवी प्रसाद, श्रुति और चर्च की प्रभुता से ही हो सकता है।

सन्देहवाद (Scepticism)

पिएग बेल (१६४७-१७०६) दार्शनिकीय और ईश्वरवादी कट्टरता की उपयोगी आलोचना में देकार्त के ज्ञान स्पष्ट होने की कसौटी को उपयोजित करता है। वह उल्लेखनीय द्वन्दात्मक (dialectical) ढंग से धर्म की धारणाओं की विच्छृंखलताओं को उपस्थित करके तर्क और श्रुति, धर्म और विज्ञान के विरोध की ओर ध्यान आकृष्ट कराता है। धर्म को श्रुति तक सीमित कर दिया गया है किंतु श्रुति को तर्क का आश्रय लेना चाहिए; जिन ऐतिहासिक तथ्यों पर श्रुति निर्भर है उनकी आलोचनात्मक परीक्षा होनी चाहिए। धार्मिक और तत्वसमीक्षा (metaphysics) सम्बन्धी मत मानवी आचारिकता को प्रभावित नहीं करते।

बेलने लाइबनित्स और ह्यूम को प्रभावित किया था। उसकी 'डिक्शनरी' (Dictionary) गोटशेड जैसे व्यक्ति, जो प्रबुद्धकाल (Enlightenment) का एक अग्रणी था, द्वारा जर्मन भाषा में अनुवादित की गई थी। उसकी ध्वंसात्मक आलोचना से अट्ठारहवीं शती के प्रबुद्धकालीन फ्रांसीसी दार्शनिकों को बड़ा बल मिला जिन्होंने उसकी महान् पुस्तक से, जैसा कि एक आधुनिक लेखक का कथन है, लेखक का नाम लिए बिना ही बहुत कुछ लिया था। १७६७ में फ्रेडरिक महान् ने वाल्तेयर को लिखा था : "बेल ने युद्ध छेड़ा। बहुत से अँग्रेज उसके अनुयायी हुए। भाग्य ने तुम्हें युद्ध को समाप्त करने के लिए चुना है।"

६

बेनेडिक्ट स्पिनोज़ा

देकार्त बुद्धिवादी और कट्टरवादी है। वह तर्क की सार्वभौम और निश्चित ज्ञान तक पहुँच सकने की क्षमता में विश्वास रखता है। मनस् में स्थित स्वयंसिद्ध धारणाओं और सिद्धान्तों की सहायता से वह ज्यामिति की भाँति ही तर्क के लिए अनिवार्य एक सार्वभौम धारणा बनाने की कोशिश करता है। स्पिनोजा इससे सहमत है। उसके लिए भी दर्शन का लक्ष्य स्पष्ट चिंतन से पहुँच सकने वाली वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान है। यदि हम स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों से प्रारम्भ करें ौर विवाद में प्रत्येक चरण को सिद्ध करते चलें तो हम गणित जैसे सार्वभौम और निश्चित सत्यों की खोज कर सकते हैं। देकार्त ने अपने 'मेडीटेशन्स' (Meditations) के परिशिष्ट में ज्यामिति की प्रणाली की उपयोजिता की मिसाल दी थी। देकार्त के दर्शन के प्रणयन पर अपनी बहुत पहले की पुस्तक और अपनी मुख्य पुस्तक 'एथिक्स' (Ethics) में स्पिनोजा ज्यामिति प्रणाली को ही मानता है। वह परिभाषाओं और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों से शुरू कर ज्यामिति के क्रम के अनुसार प्रदर्शित प्रस्तावनाओं (propositions) तक आता है जिसमें हर प्रस्तावना (proposition) अपने उचित स्थान पर होती है। प्रस्तावनाओं के साथ उनका आवश्यक परिणाम, उपसिद्धियाँ (corollaries) और टिप्पणियाँ (scholia) होती हैं जिनमें प्रस्तावनाओं (propositions) पर अधिक विस्तार और कम वैधिक ढंग से बहस की जाती है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, स्पिनोजा की विचारधारा पर गणित की प्रणाली को इस कठोरता से अपनाने का बहुत प्रभाव पड़ा था।

लक्ष्य और प्रणाली में स्पिनोजा देकार्त का अनुसरण करता है। वह भी देकार्त की ही समस्याओं में रुचि रखता है किंतु वह उनका हल अधिक व्यवस्थित ढंग और एकरूपता से करना चाहता है। देकार्त ईश्वर और प्रकृति, शरीर और मनस् में तीव्र भेद करता है। मनस् का विशेषण (attribute) विचार है, शरीर का प्रपंच (extension) फिर भी वह ईश्वर को ही स्वतंत्र द्रव्य मानता है जिस पर अन्य तथाकथित द्रव्य निर्भर हैं और जिनकी स्वतंत्रता

सापेक्षिक है। स्पिनोजा इस ख्याल को गम्भीरता से लेकर इसकी तर्कपरक एकरूपता से व्याख्या करता है। यदि द्रव्य अपनी सत्ता के लिए अपने सिवाय किसी और वस्तु की अपेक्षा नहीं करता, यदि ईश्वर ही द्रव्य है जिस पर अन्य सब वस्तुएँ निर्भर हैं तो ईश्वर के बाहर कोई द्रव्य नहीं हो सकता। तब विचार और प्रपंच अलग अलग द्रव्यों के विशेषण न होकर उनके साथ ईश्वर में ही हैं और एक ही स्वतंत्र द्रव्य के विशेषण हो सकते हैं। विश्व की हर चीज उस द्रव्य पर निर्भर है। ईश्वर सब गुणों और घटनाओं का कारण और धारण करनेवाला है। वही सब चीजों की सत्ता का सिद्धान्त है। वही एक विचारमय और प्रपंचित द्रव्य है--यहाँ द्रव्य का द्वैत तो दूर हो जाता है किंतु विशेषणों का द्वैत बना रहता है। दो विशेषणों में, मानसिक और भौतिक में, अन्तर्क्रिया (interaction) नहीं हो सकती। उनमें परस्पर सहचार (parallelism) होने से अन्तर्विभाजन नहीं हो सकता। और जहाँ भी मानसिक व्यापार हैं वहाँ भौतिक व्यापारों को होना चाहिए और जहाँ भौतिक व्यापार हैं वहाँ मानसिक व्यापारों को होना चाहिए। भौतिक स्तर की व्यवस्था और सम्बन्ध वही है जो मानसिक स्तर का है। द्वैतवाद अब एकतावाद, ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद (pantheism), अन्तर्क्रिया सहचारवाद (parallelism) हो जाती है।

बारुख (बेनेडिक्ट) स्पिनोजा (१६३२-७७) हालैण्ड में पैदा हुआ था और एक अमीर पुर्तगाली-यहूदी वणिक का पुत्र था। रबी बनने की गर्ज से उसने हिब्रू साहित्य पढ़ा था किंतु उसने यहूदी शास्त्रीयतावाद (scholasticism) में अपने सन्तोष की कोई चीज उसी तरह नहीं पाई जिस तरह बेकन और देकात ने ईसाई पद्धति में नहीं पाई थी। अपने सन्देह की अवस्था में वह देकार्त की पुस्तक से परिचित हो गया और उसने यहूदीवाद को छोड़ दिया। सिनेग से निर्वासित होने से (१६५६), वह एम्सटर्डम छोड़ने पर विवश होकर अनेक डच नगरों में रहता फिरा और अन्त में हेग में रहने लगा (१६६९) जहाँ वह शीशे काटकर अपनी जीविका उपार्जन करता था। सत्य के अपने हार्दिक प्रेम, निस्स्वार्थता और साधारण जीवन-यापन द्वारा उसने एक सच्चे दार्शनिक के गुणों का परिचय दिया है। किंतु उसके सर्वेश्वरवाद (pantheism) ने चार ओर विकट क्रोध उत्पन्न कर दिया था जिससे वह शतियों तक नास्तिक कहलाकर अपमानित किया जाता रहा।

स्पिनोजा के मत के उसके अनेक विवेचकों द्वारा अलग अलग उद्गम बताए गए हैं, जैसे मध्ययुग का ईश्वरवादी साहित्य, यहूदी विद्वानों मोजेज

मेमोनिडीस और क्रेस्काज की रचनाएँ (मेमोनिडीस के मत से ईश्वर को अनेक विशेषण(attributes)धारण करने वाला मानना उसकी एकता को नष्ट करता है। क्रेस्काज इस मत का समर्थन करता है) या जोर्डैनो ब्रूनो का मत आदि। किंतु इन सबका चाहे जो भी प्रभाव पड़ा हो इस बात का पूरा निर्देश है कि स्पिनोजा ने देकार्त की नींव पर ही निर्माण किया है। स्पिनोजा को आकृष्ट करनेवाली समस्याएँ, जिनका हल उसने ढूंढ़ने की कोशिश की है, महान् फ्रांसीसी बुद्धिवादी देकार्त की धारणाओं से ही जनित हैं और स्पिनोजा के अपने हल की विशेषता––सर्वेश्वरवाद–– देकार्त की ईश्वर को परम् द्रव्य समझने की धारणा का ही तर्कपरक परिणाम है। ऐसा संभव है कि मध्यकालीन यहूदी विचारकों का नया प्लेटोवाद उसे देकार्त की व्यवस्था की सवश्वरवादी उपपद्यताओं (probabilities) सराहना करने की ओर ले गया हो।

प्रणाली

स्पिनोजा के दर्शन में जगत को ज्यामिति की एक समस्या की भाँति लिया गया है। जिस प्रकार ज्यामिति की प्रस्तावनाएँ (propositions) अपनी तार्किक मान्यताओं का अनुसरण करती हैं उसी प्रकार हरेक पदार्थ विश्व के प्रथम सिद्धान्तों या आधार से अनुसरित होता है। जिस प्रकार गणित के निगमन (deduction) में परिणाम कालगत कार्य (temporal effect) न होकर सिद्धान्त की ही तरह शाश्वत होते हैं उसी प्रकार पदार्थ अपने प्रथम कारण से काल में विकास के रूप से नहीं वरन् शाश्वत रूप से (sub specie aeternitatis) अनुसरित होते हैं। काल (time) विचार का ही प्रकार (mode) है (modus cogitandi)। शाश्वतता के अतिरिक्त पूर्व और पश्चात कुछ नहीं है (causari=sequi, causa=ratio)। बुद्धिपरक या तार्किक आधार और वास्तविक आधार में कोई भेद नहीं किया गया है। विचार और सत्ता में तादात्म्य (identity) है। वास्तविकता में एक चीज दूसरी का अनुसरण करती है या उत्पन्न होती है। विश्व एक कारणपरक श्रृंखला है जिसमें हर कड़ी अपने से पहले की कड़ी से उसी तरह संबंधित है जैसे किसी तार्किक व्यापार में हरेक निष्कर्ष अपने पूर्व वाक्यों (premises) पर आधारित होता है। जिस प्रकार ज्यामिति के प्रदर्शन में कोई प्रस्तावना (proposition) किसी अन्य प्रस्तावना का अनिवार्य परिणाम होती है उसी प्रकार प्रकृति में हर चीज किसी अन्य चीज का अनिवार्य कार्य (effect) है : सम्पूर्णता एक अन्तर्सम्बन्धित व्यवस्था है जिसमें हरेक अंग का अपना अनिवार्य स्थान होता है। इस तरह स्पिनोजा का दर्शन पूरी तरह से निश्चयात्मक (determi-

nistic) है। जिस प्रकार गणित में कोई उद्देश्य नहीं होता उसी प्रकार प्रकृति में कोई उद्देश्य नहीं है, इस अर्थ में स्पिनोजीय दर्शन उद्देश्यवाद (teleology) के विरुद्ध है। ईश्वर में उद्देश्य कैसे हो सकता था? विचार आधारभूत द्रव्य और प्रपंचित प्रकृति का विशेषण (attribute) है और इसलिए वह लक्ष्यात्मक कारण (final cause) की भाँति प्रपंचित प्रकृति के पहले नहीं हो सकता। ईश्वर में उद्देश्य मानना विचार को पूर्ववर्ती मानना है जबकि विचार ईश्वर की अभिव्यक्ति या विशेषण होने से प्रपंच के स्तर पर ही है।

सार्वभौम द्रव्य

स्पिनोजीय व्यवस्था अपने सबसे विकसित रूप में 'एथिक्स' में है। पुस्तक के पाँच भाग हैं जो निम्नलिखित प्रसंगों का विवेचन करते हैं : (१) ईश्वर (२) मनस् की प्रकृति और मूल (३) मनोवेगों (emotions) की प्रकृति और मूल (४) मनुष्य के बंधन और मनोवेगों की शक्ति (५) बुद्धि या मानवी स्वतंत्रता की शक्ति। विचार करने का आदि बिन्दु द्रव्य की परिभाषा है। द्रव्य वह ह जिसकी अपने आप में निरपेक्ष सत्ता हो या जिसकी धारणा के लिए अन्य वस्तु की धारणा की जरूरत न हो। द्रव्य के बिना किसी वस्तु की धारणा नहीं हो सकती यद्यपि अन्य किसी वस्तु को माने बिना द्रव्य की धारणा हो सकती है। द्रव्य निरपेक्ष भाव से स्वतंत्र मूलभूत सिद्धान्त है।

द्रव्य की परिभाषा से आवश्यक रूप से कुछ परिणाम निकलते हैं। यदि द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र है तो उसे असीम होना चाहिए नहीं तो वह स्वतंत्र नहीं रहेगा; द्रव्य एक ही हो सकता है नहीं तो वह दूसरों से सीमित होकर स्वतंत्र नहीं रहेगा। द्रव्य आत्म-कृत है क्योंकि यदि वह किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न होता है तो वह उस पर निर्भर होगा। अतएव द्रव्य इस अर्थ में स्वतंत्र है कि उसे उसके बाहर की कोई वस्तु प्रतिनिवेशित (determine) नहीं करती। वह आत्म-प्रतिनिवेशित है क्योंकि उसके सारे गुण और क्रियाएँ उसकी प्रकृति से अनिवार्य रूप से उसी तरह उद्भूत होती हैं जिस तरह त्रिकोण की प्रकृति से उसकी विशेषताएँ। द्रव्य में वैयक्तिकता नहीं मानी जा सकती क्योंकि वैयक्तिकता का अर्थ सीमित या प्रतिनिवेशित कर लेना है। सारा प्रतिनिवेश (determination) निषेध (negation) द्वारा किया जाता है। इसलिए मानवी अर्थ में द्रव्य में न तो बुद्धि है और न संकल्प (will)। द्रव्य विचार नहीं करता, योजना नहीं बनाता और निर्णय नहीं करता। द्रव्य चेतन उद्देश्य या योजना के अनुसार क्रिया नहीं करता : इस तरह की उद्देश्यमूलकता द्रव्य की प्रकृति नहीं है। "मैं मानता हूँ," स्पिनोजा का कहना है, "कि हर चीज को

ईश्वर के तटस्थ संकल्प और दैवी मौज पर निर्भर माननेवाला मत उन लोगों के मत की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है जो यह मानते हैं कि ईश्वर जो करता है वह भले के लिए करता है। ऐसे व्यक्ति ईश्वर के बाहर एक चीज की स्थापना करते हैं जो ईश्वर पर निर्भर नहीं है, जो उसके काम करने का आदर्श और लक्ष्य है। यह ईश्वर को भाग्य पर निर्भर कराने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उस चीज को, जिसे हमने वस्तुओं की सत्ता और सार का एकमात्र और स्वतंत्र कारण बताया है, अत्यन्त अनर्गल दृष्टि से देखना है।

इस एक शाश्वत, असीम, आत्म-कृत वस्तुओं के अनिवार्य सिद्धान्त को ईश्वर या प्रकृति कहते हैं। ईश्वर जगत से इतर नहीं है जैसा कि देकार्त का मत था। ईश्वर जगत पर क्रिया करनेवाला कोई बाह्य अनुभवातीत कारण नहीं है (ईश्वरवाद) किंतु वह जगत में है और उसका अन्तर्निहित सिद्धांत है। ईश्वर जगत में और जगत ईश्वर में है, वह हरेक सत्तावान वस्तु का मूल (सर्वेश्वरवाद) है। ईश्वर और जगत एक हैं। यहाँ कार्य-कारण अलग नहीं हैं। ईश्वर अपने से बाहर और अलग कोई ऐसी चीज उत्पन्न नहीं करता जिसकी सत्ता उस पर निर्भर न हो; वह वस्तुओं में स्थाई द्रव्य, उनका सार या आधार है। सक्रिय सिद्धांत या सारी वास्तविकता का मूल होने से स्पिनोजा ईश्वर को एक शास्त्रीय (scholastic) शब्द का प्रयोग करते हुए वस्तुओं का सार्वभौम सिद्धान्त (natura naturans) कहता है और वस्तुओं की अनेकता, सिद्धान्त की उत्पत्ति या कार्य (effect) के अर्थ में वह ईश्वर को सारी वस्तुओं का योग (natura naturata) कहता है।

ईश्वर के विशेषण

हम ईश्वर या प्रकृति की और क्या परिभाषा दे सकते हैं: सार्वभौम वास्तविकता के और क्या विशेषण (attributes) हैं? विशेषण से स्पिनोजा का मतलब बुद्धि द्वारा द्रव्य के सार (essence) का प्रत्यक्ष है। कुछ व्याख्याता (हेगेल, एर्डमन) इससे यह समझते हैं कि विशेषण हमारे ज्ञान के रूप हैं। वह वस्तुतः ईश्वर में न होकर हमारी बुद्धि द्वारा ईश्वर पर आरोपित किए जाते हैं। अन्य व्याख्याता (कुनो फिशर) विशेषणों को ईश्वर की प्रकृति की वास्तविक अभिव्यंजना समझते हैं। विशेषण मानवी बुद्धि के प्रकार (modes) ही नहीं हैं किंतु ईश्वर के वास्तविक गुण हैं। दूसरा दृष्टिकोण सम्भवतः सही है। बुद्धिवादी स्पिनोजा ने बुद्ध के अनिवार्य रूपों की वाह्यगत सत्यता मानी थी। बुद्धि जिस चीज को सोचने को विवश है वह मानसिक वास्तविकता से अधिक सत्यता रखती है। फिर भी स्पिनोजा को वस्तुओं के असीम आधार पर निश्चित

गुणों का आरोप करने में संकोच था क्योंकि सारा प्रतिनिवेश (determination) निषेध (negation) है। किंतु उसने असीम द्रव्य में असीम संख्यक विशेषणों को मानकर इस मुश्किल से बचने का प्रयास किया। इन सब विशेषणों में हरेक अपने स्वत्व में असीम और शाश्वत होता है। ईश्वर इतना महान् है कि उसकी धारणा असीम सीमा तक असीम गुण रखनेवाले की भाँति की गई है।

इन असीम द्रव्यों में से मनस् (mind) दो--प्रपंच (extension) और विचार (thought)--को ही समझ सकता है। प्रकृति की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है जिसमें प्रपंच और विचार ही मनुष्य द्वारा जाने जाते हैं जिसकी स्वयं एक भौतिक और मानसिक सत्ता है। इसलिए ईश्वर या प्रकृति कम से कम शरीर और मनस् दोनों हैं। जहाँ प्रसर (space) या पुद्गल (matter) है वहाँ आत्मा और मनस् भी है और जहाँ आत्मा और मनस् है वहाँ प्रसर और पुद्गल भी है। ये दोनों विशेषण द्रव्य की अनिवार्य प्रकृति होने से वहाँ अवश्य होते हैं जहाँ द्रव्य होता है और द्रव्य हरेक जगह है। प्रपंच और विचार अपनी तरह से असीम तो हैं किंतु वे निरपेक्षतः असीम नहीं हैं। ईश्वर के अन्य अनेक विशेषण होने से प्रपंच या विचार ही एक मात्र विशेषण नहीं हैं और किसी भी विशेषण को निरपेक्षतः असीम नहीं कहा जा सकता। यह विशेषण परस्पर पूर्ण स्वतंत्र हैं और एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। मनस् शरीर में और शरीर मनस् में परिवर्तन नहीं कर सकता। "जब दो वस्तुओं में परस्पर कोई समानता न हो तो उनमें से कोई भी दूसरी का कारण नहीं हो सकती क्योंकि तब कार्य में वह बातें होगी जो कारण में नहीं थीं और कार्य में हरेक चीज की उत्पत्ति शून्य से माननी पड़ेगी।" यहाँ स्पिनोजा संयोगवादियों (Occasionalists) और मैलेब्रांश की धारणा को स्वीकार करता है जिनके अनुसार समान से समान की ही उत्पत्ति हो सकती है। मनस् गति को और गति मनस् को उत्पन्न नहीं कर सकती।

भौतिकवाद (materialism) की भाँति हम भौतिक से मानसिक की और अध्यात्मवाद (spiritualism) की भाँति मानसिक से भौतिक की व्याख्या नहीं कर सकते। मानसिक और भौतिक, विचार जगत और गति जगत, एक ही वास्तविकता की अभिव्यक्ति हैं; दोनों का दर्जा बराबर का है; दोनों में कोई एक दूसरे का कारण या कार्य नहीं हैं। दोनों एक ही कारण के कार्य हैं और उसी से उद्भूत होते हैं। एक दृष्टि से ईश्वर की अविभाज्य प्रकृति प्रसरगत चीज है, दूसरी दृष्टि से वह प्रात्ययिक (ideal) जगत है। इसे अब हम मानसिक-भौतिक सहचारवाद (psycho-physical-parallelism) कहते हैं। एक क्षेत्र का क्रम और तारतम्य वहीं है जो दूसरे का। मेरी वृत्त

(circle) की धारणा से संवादिता (correspondence) रखनेवाला प्रकृति में वास्तविक वृत्त (circle) है।

'प्रकारों' (modes) की धारणा

विशेषण विशेष तरह या 'प्रकारों' (modes) से व्यक्त होते हैं। प्रकारों की परिभाषा यों दी गई है कि वे "द्रव्य की अभिभावना (affections) या रूपान्तर (modifications) हैं या वस्तु में रहनेवाली वह बात हैं जिससे उसकी धारणा हो सके।" इस तरह 'प्रकार' (modes) सदा किसी वस्तु के रूपान्तर (modifications) होते हैं। किसी वस्तु के 'प्रकार' होने से ही उसकी धारणा हो सकती है। प्रपंच के विशेषण की अभिव्यक्ति विशेष पदार्थों में होती है और विचार के विशेष प्रत्ययों (ideas) और संकल्प की क्रियाओं में। विशेष प्रत्ययों और पदार्थों के अतिरिक्त अमूर्त विचार और अमूर्त प्रपंच कोई चीज नहीं है। प्रत्ययों और पदार्थों को हम बिना विशेषणों (attributes) के नहीं सोच सकते। हम प्रपंच के विना ध्रुवता को और मनस् के बिना संकल्प आदि को नहीं सोच सकते।

एक अर्थ में 'प्रकार' असीम और अनिवार्य हैं, दूसरे अर्थ में वे ससीम और सामयिक (temporal) हैं। जाति शाश्वत है किंतु व्यक्ति मरणशील; वस्तु विशेष मिट जाती हैं किंतु वर्ग (genus) अक्षुण्ण रहता है। व्यक्तियों, संकल्पों और बुद्धि की सत्ता सदा रही है और रहेगी किंतु मनुष्य जीता मरता रहता है। शाश्वत और असीम द्रव्य अपने को सदा निश्चित ढँगों से शाश्वत और अनिवार्य भौतिक और मानसिक रूपों की व्यवस्था में, प्रत्ययों (ideas) और पदार्थों की व्यवस्था द्वारा अभिव्यक्ति करता है। इस तरह की असीम और अनिवार्य प्रात्ययिक (ideal) व्यवस्था को स्पिनोजा निरपेक्षित असीम बुद्धि कहता है। प्रपंच के प्रकारों (modes) की व्यवस्था को वह गति और ध्रुवता[1] कहता है जिससे सारे जगत का रूप निर्मित है। यद्यपि जगत के खण्ड परिवर्तित होते रहते हैं तथापि उसका रूप सदा एक सा रहता है। यहाँ सम्पूर्ण प्रकृति की तुलना वैयक्तिक अवयवों (organism) से की जा सकती है जिसके तत्व तो आते जाते रहते हैं किंतु रूप एक ही रहता है।

१—गति और ध्रुवता प्रपंच के प्रकार हैं। चूंकि प्रपंच के बिना गति संभव नहीं है अतएव स्पिनोजा प्रपंच को गति का आधार मानता है। और यदि प्रपंच गति का आधार है तो गति प्रपंच का ही प्रकार है।

विशेष ससीम पदार्थ और मनस् ईश्वर के द्रव्य के प्रत्यक्ष कार्य (effect) नहीं हैं। प्रत्येक ससीम पदार्थ का निमित्त कारण (efficient cause) कोई अन्य ससीम पदार्थ होता है। पदार्थ विशेष एक दूसरे से सम्बन्धित कड़ियों के समान एक कारणमय श्रृंखला की भाँति होते हैं। प्रत्यय विशेष भी ऐसी ही शृंखला होते हैं। मेरे मनस् में किसी प्रत्यय की सत्ता का कारण कोई और प्रत्यय होता है, मेरे सम्मुख विशेष भौतिक पदार्थ की सत्ता का कारण कोई और पदार्थ होता है, एक के बिना किसी दूसरे की सत्ता नहीं हो सकती। विशिष्ट पदार्थों की सत्ता सार्वभौम द्रव्य के लिए अनिवार्य नहीं है, वह ईश्वर की प्रकृति का आवश्यक परिणाम भी नहीं हैं। फिर भी विचारों या पदार्थों की सत्ता वास्तविकता के आधारभूत सिद्धान्त के बिना नहीं हो सकती जिस पर सारे पदार्थ आधारित हैं और उसी की अवस्थाएँ हैं। स्पिनोजा इस बात को जानता है कि हम द्रव्य की धारणा से इस या उस विशिष्ट वस्तु या ससीम प्रकार (mode) की उत्पत्ति नहीं मान सकते। हम धारणा से विशिष्ट का निगमन नहीं कर सकते। एक असीम प्रपंचित और विचारशील द्रव्य की धारणा से हम किसी विशेष वस्तु की अनिवार्य उत्पत्ति नहीं दिखा सकते। किंतु स्पिनोजा का यह विश्वास है कि द्रव्य से हम पदार्थों और विचारों की अनिवार्य उत्पत्ति मान सकते हैं। जिस प्रकार त्रिकोण से उसके सारे गुण अनुसरित होते हैं उसी प्रकार विश्व के सारे गुण द्रव्य से अनिवार्यत: अनुसरित होते हैं। त्रिकोण की धारणा से हम विभिन्न त्रिकोणों की सत्ता, संख्या आकार और आकृति का निगमन (deduction) नहीं कर सकते। इसी भाँति ईश्वर या द्रव्य की धारणा से हम जगत के विभिन्न ससीम पदार्थों की सत्ता और गुणों का आविर्भाव नहीं मान सकते जिनके रूप या प्रकारों (modes) द्वारा द्रव्य अभिव्यक्त होता है। उनका द्रव्य की धारणा से अनिवार्यत: आविर्भाव नहीं होता किंतु ईश्वर के नाते वे संयोगात्मक और उपपद्य ही हैं। स्पिनोजा उनकी इस तरह व्याख्या करता है मानों वे एक दूसरे के कार्य (effects) हों। यहाँ पर हमें मामूली वैज्ञानिक व्याख्या तक ही सीमित कर दिया गया है जो गम्भीर नहीं है। शाश्वत दृष्टि से बौद्धिक व्याख्या का प्रश्न ही नहीं उठता।

शाश्वत रूप से ईश्वर असीम विशेषण (attributes) है। काल रूप से या कल्पना रूप से ईश्वर जगत है। प्रकृति इन्द्रियों और कल्पना को अनेक विभिन्न घटनाओं के रूप में प्रतिभासित होती है जो प्रकृति पर दृष्टिपात करने का अमूर्त और ऊपरी त ीका है। हमारी समझ के लिए प्रकृति एक सार्वभौम द्रव्य (substance) है और घटनाएँ विशेष उसके सीमित रूप हैं; वे उन सब अन्य रूपों के निषेध (negation) हैं जिनके द्वारा द्रव्य अपने आपको

अभिव्यक्त करता है, इसलिए द्रव्य का 'प्रकार' हुए बिना किसी 'प्रकार' (mode) की सत्ता नहीं हो सकती। द्रव्य ध्रुव सिद्धान्त है और प्रकार परिवर्तनशील है, इसलिए कोई विशिष्ट 'प्रकार' (mode) ध्रुव न होकर द्रव्य की क्षणिक अभिव्यक्ति है।

स्पिनोजा की प्रकार की धारणा उसकी बुद्धिवादी मान्यताओं से निश्चित हैं। तार्किक ढंग से हम ईश्वर की धारणा से प्रकारों (modes) का निगमन नहीं कर सकते इसलिए उनमें कोई वास्तविकता या अनिवार्यता नहीं है। फिर भी वस्तुओं की तथ्यता, शास्त्रीयतावाद (scholasticism) के अवयवी (universals), ईश्वर के अनिवार्य प्रत्यय (ideas) हैं। अनुभव से यह स्पष्ट है कि यद्यपि अवयव (particulars) स्थिर नहीं रहते तथापि वह जिस श्रेणी (जाति)के होते हैं वह सदा रहती है। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रकार (modes) इस अर्थ में असीम, अनिवार्य और शाश्वत हैं कि विश्व के रूप में परिवर्तन नहीं होता। किंतु इस बात को समझने में कठिनाई होती है कि विशिष्ट प्रकार (modes) द्रव्य के अनिवार्य परिणाम क्यों नहीं हैं जब कि उनका मूल द्रव्य ही है और जब हरेक चीज द्रव्य से ही उद्भूत होती है। विश्व की तर्कपरक व्याख्या करने के प्रयास से ही स्पिनोजा को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा है। ज्यामिति की प्रणाली से प्रभावित होने से वह यह मानता है कि सब चीजें शाश्वतः प्रथम सिद्धान्त से उद्भूत होती हैं जिससे परिणाम और विकास असम्भव हो जाते हैं; पर अनुभव उसे परिणाम का होना बताता है। तर्क और तथ्य दोनों के प्रति न्याय करने से स्पिनोजा अनिवार्य प्रकारों और आपातिक प्रकारों (contingent modes) की धारणा का आविष्कार करता है।

मानवी मनस्

देकार्त के अनुसार मूर्त द्रव्य और आत्म द्रव्य (soul-substances) हैं जो एक दूसरे पर क्रिया करते हैं। स्पिनोजा के मत से केवल एक ही द्रव्य या सिद्धान्त है जिस पर शारीरिक और मानसिक सारे व्यापार निर्भर हैं और शरीर और मनस् भी उसी के व्यापार हैं। अतएव आत्मा, अहम् या आध्यात्मिक द्रव्य जैसी विचार, अनुभूति और इच्छाओं को धारण करनेवाली कोई चीज नहीं हो सकती। मनस् में उसके विचार, अनुभूति और इच्छाएँ होती हैं। ये अवस्थाएँ पदार्थों या शारीरिक व्यापार (process) के कार्य (effects) नहीं हैं, उनमें सहचार है; वे दो तरह से अभिव्यक्त एक ही चीज के व्यापार हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते, उनमें कोई अन्तर्क्रिया नहीं होती।

अतएव सब चीजें पुद्गल (matter) और मनस् (mind) के प्रकार या रूप हैं; सब पदार्थ सप्राण हैं और सब आत्माएँ सशरीर होती हैं। जहाँ पदार्थ हैं वहाँ प्रत्यय (ideas) या मानसिक घटनाएँ हैं और जहाँ मानसिक व्यापार (process) हैं वहाँ पदार्थ हैं। स्पिनोजा ने इसलिए मानवी मनस् को मानवी शरीर का प्रत्यय (idea) कहा है। वस्तु या गति प्रसर (space) में कोई पदार्थ या व्यापार होता है जिसकी संवादिता (correspondence) प्रत्यय (idea) से होती है। मानवी शरीर बहुत जटिल (complex) है, वह बहुत से अवयवों से बना है। इसी तरह मानवी मनस् भी अनेक प्रत्ययों (ideas) से बना है। शरीर जितना ही जटिल होगा मनस् को उससे संवादित सही ज्ञान की उतनी ही संभावना होगी। मानवी मनस् शरीर का प्रत्यय ही नहीं ह उसे अपनी क्रियाओं का बोध भी होता है या वह विज्ञानमय (self-conscious) भी होता है, इसलिए स्पिनोजा ने उसे "शरीर के प्रत्यय" का "मनस् का प्रत्यय" कहा है। मनस् को अपना ज्ञान वहीं तक होता है जहाँ तक वह पदार्थ के प्रकारों के प्रत्ययों (ideas) को देखता है।

प्रत्ययों का क्रम और सम्बन्ध वही है जो पदार्थों का है। शरीर की क्रियाओं का क्रम और सम्बन्ध मनस् की क्रियाओं के क्रम और सम्बन्ध के समान ही ह। प्रत्येक वस्तु मनस् भी है और शरीर भी। विश्व के सभी प्रत्यय या विचार एक एकतापूर्ण मानसिक व्यवस्था बनाते हैं जिसकी संवादिता प्राकृतिक व्यवस्था से होती है। हरेक जीव आत्माओं और प्रत्ययों की असीम संख्या से निर्मित ईश्वर के विचार के शाश्वत प्रकार (mode) असीम बुद्धि का अंश है। यदि यह सब सच हो और यदि भौतिक व्यवस्था हेतुपरक हो तो मानसिक श्रृंखला को भी कारण रूप से प्रतिनिवेशित (determined) होना चाहिए।

शरीर में कोई भी ऐसी बात नहीं हो सकती जिसे मनस् न देखे या जिससे संवादित कोई मानसिक अवस्था न हो। इस अर्थ में मानवी मनस् को मानवी शरीर में होनेवाली हरेक घटना को जानना चाहिए। किंतु मनस् शरीर को या उसकी सत्ता को प्रत्यक्षतः न जानकर शरीर के प्रकारों (modes) से संवादित प्रत्ययों द्वारा ही जानता है। वह अन्य वस्तुओं की सत्ता और प्रकृति को भी इसी तरह जानता है क्योंकि मनस् का शरीर अन्य पदार्थों से अभिभावित होता है। इस तरह का इन्द्रिय प्राप्त ज्ञान स्पष्ट न होकर अस्पष्ट होता है। इन प्रत्ययों से हम अपने शरीर या वाह्य पदार्थों का सही ज्ञान नहीं पाते। जब तक किसी संयोगवश मनस् वाह्य पदार्थ से प्रतिनिवेशित रहता है उसका ज्ञान अस्पष्ट होता है, अन्दर से प्रतिनिवेशित होने पर ही वह चीजों को स्पष्ट रूप से समझ सकता है : तब वह एक ही समय अनेक वस्तुओं को देखता है

और इस बात का निर्णय कर लेता है कि वे किस बात में एक दूसरे से भेद, विरोध या समानता रखती हैं।

ज्ञान की धारणा

यहाँ पर हम स्पिनोजा की ज्ञान-मीमांसा की ओर आते हैं जिसका विवेचन वह 'एथिक्स' के दूसरे भाग और अपनी पुस्तक "एमेन्डेशन आव् दि इन्टेलेक्ट" में करता है। (१) अस्पष्ट और अपर्याप्त प्रत्ययों (ideas) का उद्गम कल्पना में होता है; वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर निर्भर होते हैं और शरीर के प्रकार (modes) संवेदनों का विषय हैं। अनपरखे अनुभव और रायों से ठीक ज्ञान नहीं मिलता। (२) हमें सही ज्ञान, स्पष्ट प्रत्यय और बौद्धिक ज्ञान भी होता है। बुद्धि वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देखती है, उनके अनिवार्य सम्बन्ध को जानती है और शाश्वतता के रूप में उनकी धारणा करती है। वह चीजों के विशिष्ट गुणों में सार्वभौम तथ्य को देखती है जो उन चीजों में अन्य चीजों की भाँति सामान्यतः होता है और इस अनिवार्य और शाश्वत तथ्यता का ईश्वर की सत्ता से जो सम्बन्ध है उसे समझती है : इस तरह का ज्ञान स्वयं-सिद्ध है, उसकी प्रामाणिकता उसके साथ ही रहती है, इस अर्थ में सत्य स्वयं अपनी कसौटी है; जिस तरह प्रकाश स्वयं अपने को और अँधेरे को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सत्य अपने को और भ्रम को प्रकाशित करता है। (३) स्पिनोजा प्रज्ञा (intuitive) ज्ञान को सबसे बड़ा मानता है; यह कहना कठिन है कि इसका पूर्ववर्ती अवस्था से कैसे भेद होता है। इसके द्वारा हरेक चीज को ईश्वर की सत्ता पर अनिवार्य रूप से आधारित और उसी से अनुसरित देखा जाता है : ऐसा ज्ञान ईश्वर के कुछ वाह्यगत प्रकारों (modes) के स्वत्व (essence) के यथेष्ट प्रत्यय से पदार्थों के यथेष्ट स्वत्व की ओर जाता है।" कल्पना वस्तुओं को पूर्ण रूप से नहीं देखती, वह अपने को विवरण में खो देती है; वह वस्तुओं की एकता को नहीं पकड़ पाती, उनके अर्थ को नहीं समझती। यही पक्षपात, भ्रम और गलती का कारण है; इससे व्यक्तियों से स्वतंत्र सत्ता वाले तथाकथित सामान्य प्रत्ययों, लक्ष्यात्मक कारणों या प्रकृति में उद्देश्य की उपस्थिति, स्पिरिटों, ईश्वर के मानवी रूप और मानवी भावों (passions), संकल्प-स्वातंत्र्य (free will) और इसी तरह की अन्य भ्रान्ति में विश्वास हो जाता है। बुद्धि और प्रज्ञा (intuitive) ज्ञान कल्पना की इन सब बातों को असत्य ठहराते हैं; हम सत्य और भ्रम का भेद उन्हीं के द्वारा जानते हैं। जिसे सच्चा प्रत्यय (idea) होता है वह उसे जानता है।

स्पिनोजा ज्ञान की कमी को भ्रम कहता है। कोई प्रत्यय अपने में झूठा या

सच्चा नहीं होता; किसी विषय के न होने पर भी उसकी उपस्थिति मानना ही प्रत्ययों (ideas) को झूठा या सच्चा बनाता है। भ्रम में प्रत्यय को केवल प्रत्यय ही समझने के ज्ञान की कमी होती है। "हम अपर्याप्त प्रत्यय बनाते हैं क्योंकि हम किसी विचारमय सत्ता के अंश हैं जिसके कुछ विचार पूरी तौर से और कुछ कुछ अंश तक हमारी आत्मा का स्वत्व बनाते हैं।"

बुद्धि और संकल्प

जब आत्मा प्रत्ययों को जानती है तो उसे बुद्धि कहते हैं और जब वह सत्य और झूठ को स्वीकार या अस्वीकार करती है तो उसे हम संकल्प (will) कहते हैं। बुद्धि और संकल्प मनस् की शक्ति नहीं है। आतमशक्ति नाम की वस्तुएँ नहीं हैं, मनस् केवल प्रत्यय (ideas) होते हैं। आत्मा को प्रत्यय बना दिया गया है, वह शरीर का प्रत्यय है : वह मनोवैज्ञानिक व्यापारों को प्रतिबिम्बित करता है। स्पिनोजा ने जानने, अनुभूति या आवेग और संकल्प करने में कोई भेद नहीं किया है। संकल्प करना भी वस्तुओं का प्रत्यय है; संकल्प की विशिष्ट क्रिया और विशिष्ट प्रत्यय में तादात्म्य (identity) है। अतएव बुद्धि और संकल्प एक ही चीज हैं : संकल्प अपने को स्वीकार या अस्वीकार करने का प्रत्यय है। स्वीकार करने या अस्वीकार (निर्णय) करने का यह काम देकार्त के अनुसार स्वतंत्र चुनाव या मौज का काम नहीं है किंतु यह भी प्रत्यय से ही प्रतिनिवेशित (determined) है । संकल्प-स्वातंत्र्य (freewill) नाम की कोई चीज नहीं है; प्रकृति में हरेक चीज सार्वभौम द्रव्य से अनुसरित और प्रतिनिवेशित है। मानवी आत्मा स्वर्गिक विचार का विचार मात्र ही है। जैसा हमने देखा है, संकल्प का हरेक विशिष्ट काम अन्य प्रकार (mode) से प्रतिनिवेशित होता है। मनस् और शरीर में कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। संकल्प शरीर को सक्रिय नहीं कर सकता। प्रत्येक भौतिक वस्तु यांत्रिक नियमों से संचालित है। संकल्प का निर्णय, इच्छा और शरीर का कारणात्मक प्रतिनिवेश (determination) एक ही चीज है; विचार के विशेषण (attribute) की दृष्टि से हम उसे निर्णय करते हैं और प्रपंच (extension) के विशेषण की दृष्टि से प्रतिनिवेश (determination)। कारणों से अनभिज्ञ होने से मनुष्य अपने को स्वतंत्र समझता है। गिरता हुआ पत्थर भी यदि चेतन होता तो अपने को स्वतंत्र समझता। मनुष्य अपने को स्वतंत्र समझने से ही प्रशंसा और दोष, पाप और अपराध के प्रत्ययों को बनाता है। स्पिनोजा मानवी स्वतंत्रता और मौज या अप्रतिनिवेशवाद (indeterminism) में तादात्म्य बताता है। ईश्वर में स्वतंत्रता होने का अर्थ क्रिया का उसकी प्रकृति के अनुसार होना है।

संकल्प और बुद्धि में तादात्म्य है। जिस भाँति संवेदन, कल्पना और तर्क बुद्धि के पक्ष हैंउसी भाँति संकल्प के भी विभिन्न पक्ष हैं जैसे भाव (passions) और सही संकल्प। भाव शारीरिक अवस्थाओं से संवादिता रखनेवाले अस्पष्ट और अपर्याप्त प्रत्यय हैं; वे मानवी मनस् के निष्क्रिय पक्ष हैं। प्रेम, घृणा, आशा, भय आदि हमारी अनभिज्ञता और अस्पष्टता से होते हैं। जब मनस् में स्पष्ट प्रत्यय होते हैं, जब वह जानता और समझता है तो वह निष्क्रिय न रहकर सक्रिय हो जाता है, तब उसमें तर्कपरक संकल्प होता है। इस अर्थ में मनुष्य स्वतंत्र है; यहाँ वह यांत्रिक दबाव से मुक्त होकर उद्देश्य से संचालित लक्ष्य में होता है। स्पिनोज़ा के दर्शन में ऐसा संभव कैसे है? यह दूसरा प्रश्न है। वह कहता है : "यदि किसी आदमी का अनिवार्यता से काम करने का यह अर्थ हो कि वह अपने संकल्प के विरुद्ध काम करता है तो मैं मानता हूँ कि हम कुछ चीजों को करने में बाध्य नहीं हैं और इस भाँति हम स्वतंत्र संकल्प रखते हैं।" स्पिनोज़ा का असली तात्पर्य निरपेक्षित स्वतंत्र चुनाव या अनाधारित संकल्प का विरोध करना है। जब आत्मा चीजों के अर्थ को समझती है या पर्याप्त प्रत्यय रखती है तब उसमें भाव (passions) नहीं होते और वह बन्धन मुक्त हो जाती है। मनुष्य का ज्ञान जितना ही परिभ्रान्त होता है वह उतना ही भावों (passions) का गुलाम होता है और उतना ही निर्भर, सीमित और अशक्त होता है। उसका ज्ञान जितना स्पष्ट होता है वह उतना ही तर्कपरक होता है, वह विश्व को उसके सारे सम्बन्धों म उतना ही अच्छा समझता है और इस प्रकार वह भावों से उतना ही मुक्त हो जाता है और उन पर निर्भर नहीं रहता। जानने का अर्थ घृणा और भय, क्रोध और द्वेष, प्रेम और आशा, दया और पछतावे से मुक्त हो जाना है। वह मनुष्य जो वस्तुओं के सच्चे कारणों को जानता है या उनको ईश्वर के अनिवार्य संबंध में देखता है ईश्वर से प्रेम करता है : ईश्वर से यह बौद्धिक प्रेम ईश्वर का अपने से ही प्रेम है क्योंकि मनुष्य ईश्वर का ही प्रकार (mode) है। और जब ईश्वर अपने से प्रेम करता है तो वह मनुष्यों से भी प्रेम करता है क्योंकि वे उसी के अंग हैं।

भाव (passions) मानवी प्रकृति की गलतियाँ न होकर उसके आवश्यक गुण हैं इसलिए उनका अध्ययन इस तरह करना चाहिए जैसे वे 'रेखाएँ, तल और पदार्थ' हों। तीन मूलभूत भाव हैं : इच्छा, हर्ष, शोक। आत्मरक्षण की इच्छा ही सारे भावों का आधार है। हरेक चीज अपनी सत्ता को कायम रखने की कोशिश करती है; मानसिक और शारीरिक जीवन की रक्षा करने की इस तरह की कोशिश मनुष्यों में भी होती है। मानवी प्रकृति जिसकी

कोशिश करती है मानवी मनस् उसका चेतन होता है; यह चेतनामय कोशिश केवल आत्मा से ही सम्बन्धित होने पर संकल्प कहलाती है या शरीर और मनस् से सम्बन्धित होने पर चेतनामय इच्छा कहलाती है। जो हमारी इच्छाओं को उन्नत करता है वह अच्छा है और उसका विरोधी बुरा। इसलिए हरेक मनुष्य अपनी सत्ता की वृद्धि पर लक्ष्य करता है, जब ऐसा होता है तो उसे हर्ष होता है नहीं तो शोक। हर्ष कम से अधिक पूर्णता की ओर जाना है; शोक अधिक से कम की ओर आना है। हर्ष अपने आप में पूर्णता नहीं है; यदि मनुष्य पूर्ण ही पैदा होता तो उसे हर्ष की अनुभूति नहीं होती। मनुष्य हर्ष की अनुभूति को संरक्षित रखना चाहता है और शोक से मुक्त होना चाहता है। जिन चीजों से हमें हर्ष होता है हम उनके कारणों से प्रेम करते हैं और जिनसे क्षति होती है उनसे घृणा करते हैं। सुख या दुख के कारण को भविष्य की धारणा से देखना ही आशा या भय है। व्यक्ति यह समझता है कि वह अपने कार्यों का कारण स्वयं है इसलिए जब उसके काम हर्षप्रद होते हैं तो उसे आत्मतुष्टि होती है और जब दुखदायी होते हैं तो दुख होता है। अनुभूतियाँ जितनी ही सुखदायक होंगी उतनी ही सक्रिय भी होंगी : हम जितने ही सक्रिय होंगे हमें अपनी शक्ति की उतनी ही अनुभूति होगी। अतएव द्वेष और दया जैसे आवेग हमारे लिए बुरे हैं क्योंकि उनसे हमें अपनी शक्ति और बल में क्षीणता मालूम होती है। देकार्त की भाँति स्पिनोजा भी आधुनिक शारीरिक मनोविज्ञान (physiological psychology) का अग्रगामी है।

आचार दर्शन और राजनीति

स्पिनोजा की विचारधारा का मुख्य उद्देश्य नैतिक और धार्मिक था : "ईश्वर का ज्ञान मनस् का सर्वोपरि गुण और अच्छाई है।" लक्ष्य की प्राप्ति दर्शन द्वारा ही हो सकती है। आचार दर्शन (ethics) को तत्व समीक्षा (metaphysics) पर आधारित होना चाहिए। स्पिनोजा की विचारधारा नैतिकता में पूर्णता पाती है। हमारे दार्शनिक की मुख्य कृति का नाम ही 'एथिक्स' (आचार-शास्त्र) है। हॉब्स की भाँति वह भी अहम्वादी उपनयों (premises) से प्रारम्भ करता है किंतु उनमें इस तरह परिवर्तन करता है कि उनका असर कम हो जाता है। प्रत्येक सत्ताधारी अपनी सत्ता की रक्षा के लिए संघर्षण करता है और यही संघर्षण गुण (virtue) है। गुण शक्ति है। मनस् या शरीर की शक्ति को कम करनेवाली हरेक चीज बुरी है : दया और शोक बुरा है, हर्ष अच्छा है। प्रकृति की माँग प्रकृति के विपरीत नहीं होती, अतएव उसकी माँग यह है कि हरेक अपने आपको और अपनी उपयोगिता से प्रेम करे और

अधिक से अधिक पूर्णता की ओर ले जानेवाली हर चीज की कोशिश करे। प्रकृति की शक्ति ईश्वर की शक्ति ही है; इसलिए मनुष्य को उसको पाने का पूरा अधिकार है जिसे वह अपने लिए उपयोगी समझता है चाहे वह किसी तरह भी साम दाम दण्ड भेद से ही क्यों न पाए। बड़ी मछलियों का छोटी मछलियों को खा जाना और तालाब पर अधिकार कर लेना उनका उचित अधिकार है। यहाँ तक यह दृष्टिकोण पूरा अहम्वादी है : जिसकी लाठी उसकी भैंस। फिर भी स्पिनोजा यहीं पर नहीं रुकता। गुणात्मक क्रिया बौद्धिक भी है : आत्मा को तभी क्रिया करते हुए कहा जा सकता है जब उसमें यथेष्ट प्रत्यय (ideas) हों या वह 'जानती' हो। निष्क्रियता शक्ति न होकर दासता और कमजोरी है। हरेक आदमी को उसी की खोज करनी चाहिए जो उसके लिए सचमुच उपयोगी हो और बुद्धि उसे यह बतलाती है कि आत्मा के लिए सिवाय उस चीज के जो ज्ञान का साधन हो और कुछ भी उपयोगी नहीं है। ज्ञान जीवन में हरेक उपयोगी चीज से पहले होता है और समझ या बुद्धि को पूर्ण बनाता है; इसी में मनुष्य का सबसे बड़ा आनन्द या आशीर्वाद है; आशीर्वाद स्पिरिट की तुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो ईश्वर के प्रज्ञा (intuitive) ज्ञान से उत्पन्न होती है। बुद्धि को पूर्ण बनाना ईश्वर को, उसके विशेषणों (attributes) को और उसकी प्रकृति से अनिवार्य रूप से अनुसरित होनेवाली क्रियाओं को समझना है।

मनुष्य के लिए अपनी सत्ता को पूर्ण बनाने की इच्छा में इस बात से अधिक उपयोगी और कोई बात नहीं है कि मनुष्यों में उद्देश्य की एकता रहे; इस बात से बढ़कर और कुछ नहीं है कि सब लोग सब बातों में इस तरह सहमत हों कि सबके मनस् और शरीर केवल एक मनस् और एक शरीर बन सकें। मनुष्य को अपनी सत्ता की रक्षा में उस मनुष्य से ही अधिक सहायता मिलती है जो स्वयं अपनी वास्तविक उपयोगिता खोजता है; अतएव मनुष्य परस्पर बड़े उपयोगी हो सकते हैं यदि उनमें से हरेक बुद्धि के निर्देशन में अपनी सच्ची भलाई या काम ढूंढे। बुद्धि से संचालित होनेवाले लोगअपने लिए वही चाहते हैं जो वे सबके लिए चाहते हैं और इसलिए वे अपने आचरण में न्यायपूर्ण, आस्थावान् और सम्माननीय होते हैं। जो दूसरों के लिए अच्छा है वह मेरे लिए भी अच्छा है। इसलिए शत्रु से प्यार करना अच्छा है; घृणा, क्रोध, प्रतिशोध, ईर्ष्या पाप हैं। नम्रता, आत्म-विस्मृति, मनस्ताप और आशा अच्छाई नहीं हैं यद्यपि वे दुर्बल हृदय व्यक्ति को अधिक बौद्धिक जीवन के लिए तैयार कर सकती हैं

प्राकृतिक अवस्था में हरेक मनुष्य को वह सब करने का अधिकार है जिसे वह कर सकता है; जिसकी लाठी उसकी भैंस। किंतु ऐसी स्थिति में विरोध

होगा क्योंकि लोग अपनी शक्ति का उपयोग बढ़ा चढ़ाकर कर सकते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि मनुष्य शांतिपूर्वक रहने के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारों को छोड़ दे (सामाजिक अनुबन्ध, (Social contract)। राज्य में यही होता है जिसमें सबके भले के लिए प्राकृतिक अधिकार और व्यक्ति की मौज को सीमित कर दिया जाता है। योग्यता और अपराध, न्याय और अन्याय व्यवस्थित समाज में ही अर्थ रखते हैं; आचारिकता का औचित्य यही है कि उससे सामाजिक जीवन संभव होता है।

स्पिनोजा का आचार दर्शन (ethics) इस अर्थ में व्यक्तिवादी है कि उसका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति की पूर्णता या आनन्द की आकांक्षा है। मनुष्य को अपने हित को ही पूरा करना चाहिए, उसका सर्वोच्च हित मनस् को शांति देने वाला ईश्वर या विश्व का ज्ञान ही है। इस लक्ष्य को ध्यानस्थ कर दूसरों के भले का ध्यान रखना ही उसके हित में है। इस अर्थ में कि ईश्वर के ज्ञान में मनस् का सर्वोच्च हित और उसी को जानने में उसका सर्वोच्च गुण है स्पिनोजा का आचार दर्शन सार्वभौम है। परम्हित ईश्वर का प्रेम है जो उसके सही ज्ञान से उत्पन्न होता है।

हमारा सर्वोच्च हित ईश्वर से बौद्धिक प्रेम में है जो बुद्धि की ही भाँति शाश्वत है। शरीर के साथ मानवी मनस् का नितान्त विनाश नहीं किया जा सकता किंतु उसमें से कुछ अवशेष रह जाता है जो शाश्वत होता है। हम अनुभव से जानते हैं और महसूस करते हैं कि हम शाश्वत हैं और मनस् की यह सत्ता काल से सीमित या देर (duration) द्वारा व्यक्त नहीं हो सकती।

ईश्वर की धारणा

स्पिनोजीय दर्शन में ईश्वर शब्द को अनेक तरह से प्रयुक्त किया गया है। उसका विश्व से तादात्म्य दिखाया गया है या फिर उसका तादात्म्य उसके विशेषणों से किया गया है या उसे अपने असीम विशेषणों के साथ एकतामय निरपेक्ष द्रव्य कहा गया है या उसे इन विशेषणों से बड़ा स्वयं एकतामय द्रव्य बताया गया है। स्पिनोजा का वास्तविक तात्पर्य यही है कि ईश्वर शाश्वत और अनिवार्य एकता की धारणा के पक्ष से विश्व, आवयविक सम्पूर्ण (organic whole) और अनेकता में एकता है।

स्पिनोजा ने ईश्वर में व्यक्तित्व और चेतनता नहीं मानी है। उसमें न तो बुद्धि होती है, न अनुभूति, न संकल्प; वह उद्देश्य के अनुसार काम नहीं करता किंतु प्रत्येक चीज अनिवार्यरूप से नियमानुसार उसकी प्रकृति से अनुसरित

होती है; उसकी क्रिया कारणपरक तो है किंतु उद्देश्यपरक नहीं। जगत के सारे प्रत्ययों का योग ही ईश्वर की विचारमयता है। उसमें विचार की शक्ति या विशेषण (attribute) है जिसकी अभिव्यक्ति निरपेक्ष असीम बुद्धि या विचार करने के शाश्वत और अनिवार्य प्रकारों (modes) द्वारा होती है और इन प्रकारों की अभिव्यक्ति नाशवान् मानवी मनस् में होती है। स्पिनोजा कभी कभी यह मानता है कि ईश्वर को अपने स्वत्व और उससे अनुसरित होने वाली सब चीजों का ज्ञान होता है।

—:o:—

अनुभववाद का विकास

(Development of Empiricism)

७

जॉन लॉक

समस्या

जैसा हम देख चुके हैं हॉब्स अपने ज्ञान विषयक आदर्श में बुद्धिवादी था। वह देकार्त के साथ यह मानता था कि अनुभव मात्र निश्चितता नहीं दे सकता। साथ ही वह बेकन से इस बात में भी सहमत था कि हम जो कुछ जानते हैं उसका मूल संवेदन (sensation) ही है। यहाँ दो विचारधाराएँ थीं जो एक व्यवस्था में ठीक नहीं बैठती थीं। ज्ञान का मूल संवेदन में मानने से ज्ञान की प्रामाणिकता या निश्चितता पर आघात होता था। हाब्स को इस कठिनाई का आभास होता था जिससे उसके भौतिक विज्ञान सम्बन्धी निष्कर्षों में कभी कभी सन्देह का पुट मिलता है। जॉन लॉक के लिए यह समस्या ही सब कुछ हो गई; उसके हाथों में दर्शन ज्ञान की धारणा बन गया और उसमें ज्ञान की प्रकृति, मूल और उसकी सत्यता का परीक्षण होने लगा।

जान लॉक (१६३२-१७०४) ने आक्सफोर्ड में दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और औषधिशास्त्र पढ़ा था। विश्वविद्यालय में पढ़ाने की अब तक प्रचलित शास्त्रीय (scholastic) पद्धति से उसे घृणा थी किंतु उसे देकार्त की रचनाओं से बहुत सन्तोष मिला। बहुत वर्षों तक (१६६६-८३) वह अर्ल आव् शैफ्ट्सबरी की नौकरी में था। वह उसका सेक्रेटरी और उसके पुत्र और पौत्र का शिक्षक था। अपने आश्रयदाता के निर्वासन पर वह भी उसके साथ हालैण्ड गया था। जेम्स द्वितीय के पदच्युत और विलियम आव् आरेन्ज के सिंहासनारूढ़ होने के बाद इंग्लैण्ड लौटने पर उसने बहुत से महत्वपूर्ण सार्वजनिक पद ग्रहण किए। जीवन के शेष वर्ष (१७००-१७०४) उसने सर फ्रांसिस माशाम के परिवार में बिताए जिसकी पत्नी दार्शनिक कडवर्थ की पुत्री थी।

ज्ञान का मूल

लॉक के अनुसार दर्शन वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान है। इस ज्ञान में वस्तुओं की प्रकृति (भौतिक विज्ञान), मनुष्य को स्वतंत्र बौद्धिक कर्ता होने के नाते जो कुछ करना चाहिए (आचार शास्त्र) और इस तरह के ज्ञान को पाने और दूसरों को बताने के साधनों और तरीकों (तर्कशास्त्र) का अध्ययन होता है। लॉक इन तीनों में ज्ञान की समस्या को प्रधान मानता है। उसके मत से खोज करने के पहले हमें अपनी योग्यताओं की परीक्षा करना और यह देखना कि हमारी बुद्धि किन चीजों को ग्रहण कर सकती है या नहीं कर सकती अत्यन्त आवश्यक है। इस काम को उसने अपनी मुख्य पुस्तक "एसेज कन्सर्निंग ह्यमन अन्डर्स्टैंडिग में किया है। किन्तु वह यह मानता है कि सबसे पहले हमें अपने प्रत्ययों (ideas) के मूल का अध्ययन करना चाहिए जिससे हम यह बता सकें कि निश्चित ज्ञान क्या है और क्या नहीं है और हमारे जान सकने की सीमाएँ क्या हैं। बहुत कुछ ज्ञान के मूल पर निर्भर है। यदि देकार्त और औरों का यह मानना सच हो कि हमें कुछ सिद्धान्तों का जन्मजात ज्ञान होता है तो उनकी सत्यता के विषय में प्रश्न उठाने का कोई कारण नहीं रह जाता। लॉक ने जन्मजात (innate) प्रत्ययों की समस्या को अपनी पुस्तक के पहले अध्याय में लिया है जो सबसे बाद में लिखा गया था।

यह मानते हुए कि मनस् को अपने जन्मजात सिद्धान्तों का, यदि वे हों, बोध होना चाहिए--मनस् को जिस चीज का बोध न हो उसे हम मनस् में नहीं मान सकते--लॉक जन्मजात सत्यों की धारणा का विरोध करने को अग्रसर होता है। मनुष्यों के मनस् में कल्पनात्मक (speculative) या व्यावहारिक कोई सिद्धान्त नहीं है और यदि हों भी तो अन्य सत्यों की भाँति उन्हें भी प्राप्त किया गया होगा। यदि आत्मा पर किसी ऐसे सिद्धान्त की छाप हो जिसका बोध उसे न हो तो यह भेद करना असम्भव हो जायगा कि क्या जन्मजात है और क्या नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमें तर्क से काम लेने के पहले ही ऐसे सत्यों का बोध होता है क्योंकि बच्चों, अशिक्षितों और जंगली लोगों के अपने तर्क होते हैं यद्यपि वे उसे जानते नहीं। किसी बात को तत्काल मान लेना भी उसके जन्मजात होने का प्रमाण नहीं है। नैतिक नियमों को भी जन्मजात नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे स्वयंसिद्ध या सार्वभौम रूप से मान्य नहीं हैं और वे मनुष्यों को क्रिया करने की प्रेरणा नहीं देते। जो बहुतों की नजर में पाप है दूसरों की नजर में कर्तव्य है। यह कहना कि ऐसे प्रत्ययों को धीरे धीरे पक्षपात, शिक्षा और रीति से अस्पष्ट बना दिया जाता है उनकी सार्व-

भौम मान्यता से इनकार करना है। यदि हम यह मानें कि उन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता तो उन्हें सब मनुष्यों में प्रकट होना चाहिए और बच्चों और असभ्यों में तो विशेष स्पष्टता से। ईश्वर की धारणा, जिस पर देकार्त ने बहुत जोर दिया है, जन्मजात नहीं हो सकती क्योंकि इसका सबूत यह है कि या तो पूरा गण ईश्वर की धारणा या ज्ञान को चाहता है या उसे ईश्वर की कोई स्पष्ट धारणा नहीं होती। किंतु यदि दुनियाँ भर के लोगों को ईश्वर की धारणा होती तो भी उससे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि ईश्वर की धारणा जन्मजात है। आग, सूर्य, गर्मी या संख्या को जन्मजात प्रमाणित नहीं किया जाता क्योंकि उन्हें पूरा जगत जानता और मानता है। एक बुद्धिवादी प्राणी सृष्टि में जब दैवी शक्ति और ज्ञान का आभास देखने का प्रयत्न करेगा तो वह एक ईश्वर की धारणा तो कर ही लेगा।

संक्षेप में प्रत्यय और सिद्धान्त कलाओं और विज्ञानों की भाँति ही जन्मजात नहीं हैं। मनस् अपनी पूर्व अवस्था में कोरा, "सफेद कागज" होता है, उसमें कोई विशेषता या प्रत्यय नहीं होता। अब प्रश्न यह है कि तब उसमें उपकरण आते कैसे हैं? उसमें तर्क और ज्ञान की सारी सामग्री कहाँ से आती है? लॉक इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में देता है—अनुभव से; हमारा सारा ज्ञान अनुभव पर आधारित है; सारा ज्ञान अनुभव से ही प्रसूत होता है। हमारे सारे प्रत्ययों (ideas) के दो मूल हैं, संवेदन जिनसे मनस् में संवेदनात्मक गुणों के उपकरण उत्पन्न होते हैं और विमर्श (reflection) या अन्तःकरण (internal sense) जो मनस् को अपनी क्रियाओं के प्रत्यय देता है जैसे प्रत्यक्ष, विचार करना, सन्देह करना, विश्वास करना, तर्क करना, जानना और संकल्प करना। मानवी बुद्धि की पहली क्षमता यह है कि वह अपने ऊपर या तो इन्द्रियों द्वारा वाह्य वस्तुओं की या जब वह उन पर विमर्श करती है तो अपनी क्रियाओं द्वारा अंकित बातों को ग्रहण करती है। प्रत्यय (idea) से लॉक का तात्पर्य उससे है जिसका प्रत्यक्ष मनस् अपने आप में करता हो या जो प्रत्यक्ष, विचार या समझ का अपरोक्ष (immediate) विषय हो।

इस तरह से गृहीत प्रत्यय साधारण प्रत्यय (simple ideas) होते हैं जिनको मनस् अपनी शक्ति से असीम विभिन्नता तक दुहरा सकता है, तुलना कर सकता ह, मिला सकता है और इस भाँति इच्छित रूप से नए जटिल प्रत्ययों (complex ideas) को बना सकता है। किन्तु हमारी बुद्धि में किसी नए साधारण प्रत्यय को बनाने या मनस् में विद्यमान साधारण प्रत्ययों को नष्ट कर सकने की शक्ति नहीं है। इनमें से कुछ साधारण प्रत्यय हमारे मनस् में केवल एक ही इन्द्रिय से आते हैं जैसे रंग, ध्वनि, स्वाद, गर्मी, सर्दी, ठोसपन आदि के

प्रत्यय; कुछ प्रत्यय एक से अधिक इन्द्रियों से आते हैं जैसे प्रसर (space) या प्रपंच, आकृति, ध्रुवता, गति (देखने और स्पर्श करने से)। कुछ प्रत्यय विमर्श (reflection) से आते हैं; मनस् उन प्रत्ययों के बारे में अपनी क्रियाओं का अवलोकन करता ह तो इस तरह के प्रत्ययों को पाता है जैसे मनस् अपनी प्रत्यक्ष, मनन, स्मृति, विवेक, तुलना, मिलाना, नाम देना आदि क्रियाओं का अवलोकन करता है। कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जो संवेदन और विमर्श दोनों से प्राप्त होते हैं जैसे हर्ष, दुख, शक्ति, सत्ता, एकता, आनुपूर्व्य (succession) और देर (duration)।

संवेदन से प्राप्त कुछ प्रत्ययों से समानता रखती हुई हमसे बाहर कोई सत्ता नहीं होती; प्रत्यय विषय में निहित किसी चीज के ठीक प्रतिबिम्ब नहीं होते और न ही उससे समानता रखते हैं। वस्तुओं में हमारे अन्दर कुछ प्रत्ययों को उत्पन्न करने की शक्ति है; ऐसी शक्ति को हम गुण (quality) कह सकते हैं। कुछ गुण स्वयं वस्तुओं में होते हैं, वे वस्तुओं से अलग नहीं किए जा सकते। ऐसे गुणों को लाक ने प्रमुख गुण (primary qualities) कहा है जैसे ठोसपन, प्रपंच, आकृति, गति या ध्रुवता और संख्या। वह गुण जो स्वयं वस्तुओं में तो नहीं होते किंतु अपने प्रमुख गुणों से हमें विभिन्न संवेदन जैसे रंग, ध्वनि, स्वाद आदि उत्पन्न करने की शक्तियों (गुणों) को लॉक गौण गुण (secondary qualities) कहता है।

हमारे सब साधारण प्रत्यय (simple ideas) पूर्वकथित द्वारों से आते हैं; हमारा सारा ज्ञान उनसे निर्मित है, जिस तरह वर्णमाला के पैंतालीस अक्षरों से सारे शब्द बनते हैं। वाह्य और आन्तरिक संवेदन ही ऐसे गवाक्ष हैं जिनसे बुद्धि के अँधेरे कमरे में प्रकाश जाता है। किंतु मनस् अपनी शक्ति से इन प्रत्ययों को एकत्रित कर नए जटिल (complex) प्रत्यय बना सकता है जो उसने जटिल रूप में ग्रहण नहीं किए थे। मनस् दो प्रत्ययों (ideas) को परस्पर मिला सकता है और इस तरहवह सम्बन्ध के सभी प्रत्ययों (ideas of relations) को पाता है; वह उनकी वास्तविक सत्ता में उनके साथ रहनेवाले अन्य प्रत्ययों को उनसे अलग भी कर सकता है जिसे अनुचयन (abstraction) करते हैं। साधारण प्रत्ययों को ग्रहण करने में मनस् निष्क्रिय (passive) है किंतु अभी अभी वर्णित अपनी क्रियाओं में वह प्रत्ययों पर अपनी शक्ति डालता है। असंख्य जटिल (complex) प्रत्ययों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है: प्रकार (modes), द्रव्य और सम्बन्ध (relations)।

हमारे प्रकार के प्रत्यय (ideas of modes) जटिल (complex) प्रत्यय

हैं जिनकी अपने आप में सत्ता नहीं हो सकती वरन् वे द्रव्यों, जैसे त्रिकोण, कृतज्ञता, हत्या आदि पर निर्भर होते हैं या उनकी अभिभावना (affections) होते हैं। साधारण प्रकार (simple modes)एक से साधारण प्रत्ययों की ही विभिन्नताएँ या अलग अलग मेल होते हैं जिनमें और किसी का मिश्रण नहीं होता, जैसे एक दर्जन इकाइयों का जोड़। मिश्रित प्रकार (mixed modes) विभिन्न तरह के साधारण प्रत्ययों के मेल से बनते हैं जिन्हें एक साथ रखकर जटिल (complex) प्रकार बनाया जाता है जैसे सौंदर्य जिसमें रंग और आकृति का एक ऐसा मिश्रण होता है जो देखनेवाले को हर्ष या सुख देता है। प्रसर (space) के साधारण प्रत्यय को लेकर और उसे मिलाने पर हमें आकृति, स्थान, असीम विस्तार के साधारण प्रकार मिलते हैं। घंटे, दिन, वर्ष, काल और शाश्वतता, आनुपूर्व्य (succession), देर (duration) के साधारण प्रकार हैं। विचार करने या मनस् की क्रियाओं के भी साधारण प्रकार होते हैं।

हमारे द्रव्य के प्रत्यय भी जटिल प्रत्यय हैं जिन्हें मनस् साधारण प्रत्ययों को एकत्रित करके बनाता है। द्रव्य का जटिल प्रत्यय गुणों के प्रत्यय के मेल से बनता है और किसी वस्तु विशेष और इन गुणों के आधार के अस्पष्ट प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह लोहे नामक द्रव्य का प्रत्यय लोहे के इस आधार के अस्पष्ट प्रत्यय, जिससे काला रंग, कुछ वजन, कठोरता, तार खींचना और पिघलना आदि के प्रत्यय सम्बन्धित हैं, से बनता है। हम देखते हैं कि संवेदन और विमर्श से प्राप्त कुछ साधारण प्रत्यय सदा एक साथ रहते हैं, तो हम मान लेते हैं कि वे एक ही चीज में होते हैं और हम उनके इस मिश्रण को एक ही नाम से पुकारते हैं। हम यह नहीं सोच सकते कि इन गुणों (प्रत्ययों) की अपने आप में सत्ता कैसे हो सकती है, इसलिए हम उनकी सत्ता के किसी आधार को मान लेते हैं और उसको द्रव्य कहते हैं। हममें भौतिक द्रव्यों आत्म-द्रव्यों और ईश्वर के प्रत्यय हैं।

एक चीज की दूसरी से तुलना करने पर मनस् को सम्बन्ध के प्रत्यय (ideas of relations) प्राप्त होते हैं, मनस् एक चीज को दूसरी से मिलाता है या उन्हें सम्बन्धित करता है। सब चीजें सम्बन्धित हो सकती हैं और सम्बन्ध के सारे प्रत्यय साधारण प्रत्ययों से बनते हैं। जहाँ तक वस्तुओं की सत्ता हो सकने का प्रश्न है कारण और कार्य का प्रत्यय ही सबसे व्यापक प्रत्यय है; उसकी उत्पत्ति संवेदन और विमर्श (reflection) से होती है। हम इन्द्रियों के बल पर यह जानते हैं कि वस्तुओं में परिवर्तन होता है; गुणों और द्रव्यों की सत्ता होती है और उनकी सत्ता अन्य किसी सत्ता की क्रियाओं पर अपेक्षित रहती है। साधारण प्रत्यय को उत्पन्न करनेवाली चीज को हम कारण कहते हैं,

जो उत्पन्न होता है उसे कार्य (effect) कहते हैं, इस तरह गर्मी मोम के पिघलने का कारण है। कारण वह है जो अन्य किसी चीज––साधारण प्रत्यय, द्रव्य या प्रकार––की सत्ता को संभव करता है; कार्य वह है जिसका प्रारम्भ किसी अन्य चीज से होता है। कारणों की विभिन्न किस्में सृजन, उत्पत्ति, निर्माण और परिवर्तन हैं। कारण और कार्यों का प्रत्यय पाने के लिए किसी साधारण प्रत्यय या द्रव्य की सत्ता को अन्य किसी चीज की क्रिया से उस क्रिया के ढंग को जाने बिना मान लेना ही काफी है। और भी अगणित सम्बन्ध हैं जैसे काल, स्थान, प्रपंच तादात्म्य, अनेकता, नैतिकता आदि के सम्बन्ध।

ज्ञान की प्रकृति और प्रामाणिकता

मनस् को हमारे ज्ञान की सामग्री संवेदनों और विमर्श से मिलती है; मनस् उन पर क्रिया करके जटिल प्रत्यय बनाता है। प्रश्न उठता है कि ऐसे प्रत्ययों का ज्ञेयमूल्य (cognitive value) क्या है और ज्ञान बनने के लिए उन्हें क्या क्या शर्तें पूरी करनी चाहिए? प्रत्ययों को स्पष्ट होना चाहिए क्योंकि अस्पष्ट प्रत्यय शब्दों के प्रयोग को अनिश्चित बना देते हैं। वास्तविक प्रत्यय वे हैं जिनका आधार प्रकृति में होता है, जिनकी संवादिता वास्तविक सत्तावान् पदार्थों या उनके पूर्वरूपों (archetypes) से होती है। सब साधारण प्रत्यय वास्तविक होते हैं इसलिए नहीं कि वे सत्तात्मक वस्तुओं का प्रतिरूप होते हैं––ऐसा केवल पदार्थों के प्रमुख गुणों के साथ ही होता है––वरन् वे सब हमसे वाह्य शक्तियों के कार्य होते हैं। मिश्रित प्रकारों और सम्बन्धों की मनुष्यों के मनस् से बाहर कोई सत्ता नहीं होती, वे वास्तविक वस्तुओं के प्रतिरूप नहीं होते; वे तभी वास्तविक हो सकते हैं जब उनको बनाते समय चीजों को उनसे संवादित हो सकने की संभावना रक्खी जाय। वे स्वयं पूर्वरूप (archetypes) होते हैं इसलिए वे तब तक भ्रामक नहीं हो सकते जब तक उनमें असम्बद्ध प्रत्ययों का समावेश न कर दिया जाय। किंतु हम यह चाहते हैं कि द्रव्यों के जटिल प्रत्यय अपने आप में जो हैं उसी रूप में हमसे वाह्य द्रव्यों का प्रतिरूप हों; अतएव वे साधारण प्रत्ययों का हमसे वाह्य वस्तुओं से मिलने और साथ रहने के अर्थ में वास्तविक हैं। यदि प्रत्यय पूरी तौर से पूर्वरूपों के प्रतिरूप होते हैं तो वे पर्याप्त होते हैं जबकि अपर्याप्त प्रत्यय उन पूर्वरूपों का अधूरा और अस्पष्ट प्रतिरूप होते हैं। सारे साधारण प्रत्यय और प्रकार पर्याप्त होते हैं; किंतु सभी द्रव्यों के प्रत्यय अपर्याप्त होते हैं क्योंकि वे वस्तुओं की वास्तविक सत्ता का प्रतिरूप होना चाहते हैं। जब मनस् अपने प्रत्ययों का आरोप उनसे बाहर किसी चीज से करता है तो हम उन्हें सत्य या झूठ कह सकते हैं; यहाँ

मनस् उनकी संवादिता उस चीज से मान लेता है जो सत्य या झूठी हो सकती है।

क्योंकि हमारा सारा ज्ञान प्रत्ययों (ideas) के बारे में होता है इसलिए ज्ञान हमारे प्रत्ययों के सम्बन्ध और सहमति (agreement) या असहमति के अलावा और कुछ नहीं है। हम देखते ह कि सफेद काला नहीं है, सफेद और काले के प्रत्यय में सहमति नहीं है। ज्ञान में साक्ष्य (evidence) के विभिन्न अंश होते हैं। कभी मनस् अन्य प्रत्यय की मध्यस्थता के बिना दो प्रत्ययों की सहमति और असहमति को तत्काल देख लेता है। यह प्रज्ञा (intuitive) ज्ञान है। मनस् को यह ज्ञान तत्काल होता है कि सफद काला नहीं है, वृत्त त्रिकोण नहीं है, तीन दो से अधिक है। यह ज्ञान मनुष्य के लिए सबसे स्पष्ट और निश्चित ज्ञान है। इसको प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है और यह प्रमाणित भी नहीं हो सकता, यह आवश्यक है, स्वयंसिद्ध है और हमारे सारे ज्ञान की निश्चितता और साक्ष्यता इसी पर निर्भर है। कभी मनस् दो प्रत्ययों की सहमति और असहमति को तत्काल नहीं देखता; वह उनकी तुलना अन्य प्रत्ययों से किए बिना उनकी सहमति और असहमति को नहीं जान पाता; यह तर्क या मध्यस्थ (mediate) या प्रदर्शनात्मक (demonstrative) ज्ञान है। प्रत्ययों की मध्यस्थता से प्राप्त यह ज्ञान निश्चित तो है किंतु प्रज्ञा ज्ञान की भाँति इसका साक्ष्य या मान्यता उतनी स्पष्ट और तत्कालिक नहीं है। निष्कर्ष को निश्चित होने के लिए इस ज्ञान के प्रत्येक अंग में प्रज्ञात्मक निश्चितता होनी चाहिए। इस तरह का प्रदर्शन गणित में या मनस् जहाँ भी अन्य प्रत्ययों की मध्यस्थता की सहायता से प्रत्ययों की सहमति और असहमति देखता है वहाँ होता है। प्रज्ञात्मक और प्रदर्शनात्मक ज्ञान में निश्चितता होती है, इन दोनों से कम निश्चितता रखनेवाली चीज को हम विश्वास या राय ही कह सकते हैं, ज्ञान नहीं।

किन्तु हम अपने वाह्य जगत के ज्ञान के विषय में क्या कहें? हमारे मनस् में वाह्य वस्तुओं के प्रत्यय होते हैं और उनमें निश्चितता होती है। किंतु प्रत्यय से अधिक भी कुछ है; क्या अपने से अलग किसी वस्तु की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है जिसकी संवादिता प्रत्ययों से हो? क्या वाह्य जगत वास्तविक है? कभी हमें ऐसे प्रत्यय होते हैं जो तत्काल किसी वस्तु से संवादिता नहीं रखते जैसे स्वप्न के प्रत्यय। यहाँ हमें एक ऐसा साक्ष्य मिलता है जिसमें हम सन्देह नहीं कर सकते। हमारा अपने से बाहर ससीम वस्तुओं की सत्ता का ज्ञान उपपद्यता की सीमा के बाहर तो चला जाता है किंतु फिर भी प्रज्ञात्मक या प्रदर्शनात्मक ज्ञान तक नहीं पहुँच पाता। लाक इसे संवेदनीय (sensitive) ज्ञान कहता है। हमें अपने और ईश्वर को छोड़कर किसी और वास्तविक सत्ता

का स्वयंसिद्ध ज्ञान नहीं है। अपनी सत्ता को हम प्रज्ञा से और ईश्वर की सत्ता को तर्क से जानते हैं। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अपने से वाह्य वस्तुओं की सत्ता का ज्ञान भी ज्ञान कहलाने योग्य है यद्यपि उसमें प्रज्ञात्मक या तर्क से निगमन द्वारा प्राप्त ज्ञान की निश्चितता नहीं रहती। इसको मानने के और भी संगामी कारण हैं : वस्तुओं का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है; वस्तुएँ स्मृति-कल्पना से भेद रखती हैं; कभी कभी उनके साथ दुख होता है, वे एक दूसरे की साक्षी को उपोद्वलित करती हैं।

ज्ञान की सीमाएँ

हमारे ज्ञान का क्षेत्र क्या है और वह कहाँ तक जाता है? ज्ञान प्रत्ययों की सहमति या असहमति का प्रत्यक्ष होने से हमारे प्रत्ययों से बाहर नहीं जा सकता। जहाँ प्रत्ययों का अभाव है वहाँ ज्ञान नहीं हो सकता। हम प्रत्यक्ष करने के कुछ तरीकों, जो अधिक सूक्ष्म नहीं हैं, द्वारा प्राप्त संकुचित सूचना तक ही सीमित हैं। किंतु हमारा ज्ञान हमारे प्रत्ययों से भी संकुचित है। हम अनुभव के वाहर ही नहीं जा सकते किन्तु हमें अपने उन प्रत्ययों का ज्ञान भी नहीं हो सकता जिसे हम चाहते हैं। हम अनुभव कर सकने योग्य हर चीज का अनुभव नहीं कर पाते और हर देखी हुई चीज को समझ भी नहीं पाते। हमारी अन-भिज्ञता का पहला कारण है प्रत्ययों का अभाव। हमसे पूर्ण लोगों में हमसे अधिक साधारण प्रत्यय और अधिक सूक्ष्म इन्द्रियाँ हो सकती हैं। कुछ चीजें हमारे देखने की सीमा से अत्यन्त दूर हैं (तारे), अन्य बहुत सूक्ष्म हैं (परमाणु)। फिर हम अपने वहुत से प्रत्ययों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध भी नहीं खोज पाते। हम नहीं जानते कि आकृति, आकार या वस्तु के अदृश्य भागों की गति में और उसके रंग, स्वाद या ध्वनि में क्या सम्बन्ध है; हम नहीं समझते कि सोने के पीले रंग, वजन, कठोरता और पिघल सकने की योग्यता में क्या सम्बन्ध है जिसमें हम यदि इनमें से एक या अधिक गुणों को जानते हों तो दूसरे गुणों की उपस्थिति को समझ सकें। त्रिकोण की परिभाषा से यह सदा अनुसरित होता है कि उसके तीनों कोणों का जोड़ १८० होगा, यह बात त्रिकोण कही जाने वाली सभी चीजों के लिए चाहे वे हों या न हों स्वयंसिद्ध है। किंतु सोने के पीले होने और वजन रखने से मैं निश्चितता के साथ इस बात का निगमन नहीं कर सकता कि उसे गलने योग्य भी होना चाहिए। उसका गलाया जा सकना अनुभव से तो सिद्ध है किंतु सारे सोने को गलाया जा सकता है यह स्वयंसिद्ध सत्य नहीं है। मैं ज्ञान को बनानेवाले सार्वभौम स्वयंसिद्ध सत्यों को चाहता हूँ किंतु उन्हें मैं अपने सभी अनुभवों से नहीं पा सकता।

ध्यान में रखने योग्य दूसरी बात यह है कि वास्तविक ज्ञान होने के लिये मेरे सभी प्रत्ययों को किसी न किसी तरह वस्तुओं की वास्तविकता से सहमत होना चाहिए। यहाँ मेरा ज्ञान फिर सीमित है। सभी साधारण प्रत्यय वाह्य वस्तुओं के प्रतिरूप होते हैं क्योंकि वे मनस् पर क्रिया करनेवाली चीजों की ही उत्पत्ति होते हैं। वाह्य वस्तुएँ हमारे अन्दर सफेद का संवेदन उत्पन्न करती हैं चाहे हम यह न जानें कि संवेदन किस वस्तु से और कैसे उत्पन्न होते हैं किन्तु फिर भी कोई वस्तु ह जो उन्हें उत्पन्न करती ह। हमारे जटिल (complex) प्रत्यय भी बहुत हद तक हमें ज्ञान देते हैं किंतु किसी दूसरे ही अर्थ में। वे किसी चीज का प्रतिरूप नहीं होते या उनको किसी मौलिक सत्ता से उद्दिष्ट भी नहीं किया जा सकता; वे मनस् द्वारा निर्मित पूर्वरूप होते हैं। मनस् अपनी इच्छा से प्रत्ययों को मिलाता है चाहे प्रकृति में उनका कोई सम्बन्ध हो या न हो। यह याद रखने पर हम देखेंगे कि वे हमें निश्चित ज्ञान देते हैं। ऐसा ज्ञान हमें गणित में मिलता है। गणितज्ञ त्रिकोण या वृत्त का प्रत्यय बनाता है जो उसके मनस् में ही रहता है। उन परिभाषाओं से वह जिन प्रस्तावनाओं (propositions) का तर्कसंगत निगमन करता है वे सत्य और निश्चित होती हैं। यदि त्रिकोण नाम की कोई चीज हो तो चाहे उसकी सत्ता कहीं भी हो उसके विषय में ये प्रस्तावनाएँ अवश्य सत्य होंगी।

किन्तु द्रव्यों के जटिल प्रत्ययों की बात और है। हमारे द्रव्यों के प्रत्यय हमसे बाहर पूर्वरूपों (archetypes) के प्रतिरूप माने जाते हैं और उन्हीं से उद्दिष्ट किए जाते हैं। द्रव्यों के प्रत्ययों में आरोपित गुण यदि प्रकृति में एक साथ सत्ता रखते हों, यदि प्रकृति में पीले, पिघलने, ढालनेवाले गुणों को धारण करनेवाली कोई चीज हो तो द्रव्य का प्रत्यय सच्चे ज्ञान का विषय ह। और हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि जो साधारण प्रत्यय किसी द्रव्य में एक साथ पाए जाते हैं उन्हें एक साथ फिर मिलाया जा सकता है। किंतु हम द्रव्यों के विषय में कोई सार्वभौम प्रस्तावना नहीं बना सकते क्योंकि जिन प्रत्ययों को हम एक साथ रखते हैं उनमें कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं देखते। अनुभव बताता है कि अज्ञेय आधार में कुछ गुण एक साथ रहते हैं किंतु हम उन गुणों की पारस्परिक निर्भरता को नहीं जान सकते और गुणों के रहने से हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि उन गुणों के साथ और किन गुणों को रहना ही चाहिए। सोने के विषय में स्वयंसिद्धता की दृष्टि से कोई निश्चित सामान्य मान्यता नहीं है। यदि हम सोने के वजन और उसके पिघल सकने की योग्यता में कोई अनिवार्य सम्बन्ध खोज सकते तो शायद हम कोई सार्वभौम प्रस्तावना बना कर यह कह सकते कि सारा सोना पिघल सकने

योग्य है; तो यह प्रस्तावना उतनी ही सच होती जितनी कि यह कि त्रिकोण के कोणों का जोड़ १८० होता है। द्रव्यों के विषय में समस्या को उलझाने वाली एक और कठिनाई है। प्रकृति में द्रव्य स्वतंत्र नहीं हैं; उनके गुण बहुत अंश तक प्रकृति की अनेक शर्तों पर निर्भर होते हैं। हम यह नहीं समझ सकते कि इस सब व्यवस्था को संचालित करनेवाली गति कहाँ से आती है। इसको समझने के लिए हमें सम्पूर्ण विश्व को समझना पड़ेगा। किंतु हम उनके सूक्ष्म सक्रिय खण्डों के आकार, आकृति और उन पर वाह्य वस्तुओं द्वारा डाली जानेवाली विभिन्न गतियों को नहीं समझ सकते। अतएव हम यह नहीं जानते कि किसी पदार्थ के प्रमुख गुण अन्य पदार्थ के प्रमुख गुणों में नियमित रूप से क्या और कैसे परिवर्तन कर रहे हैं। हम यह भी नहीं जानते कि किसी पदार्थ के कौन से प्रमुख गुण हममें संवेदन (sensation) या प्रत्यय (idea) उत्पन्न करते हैं। हम इन प्रमुख गुणों और उनके कार्यों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं देखते। इसलिए यहाँ हमें बहुत कम सार्वभौम निश्चितता मिलती है और हमें उपपद्यता (probability) से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता है। इस कारण कोई पूर्ण प्राकृतिक विज्ञान नहीं हो सकता। स्पिरिटों के बारे में हम और भी अनभिज्ञ हैं। "प्राकृतिक वस्तुओं का पूर्ण विज्ञान (आध्यात्मिक सत्ता का तो उल्लेख ही व्यर्थ है) संभव नहीं हो सकता और उसको खोजना गूलर के फूल को खोजना है।"

प्रत्ययों की सहमति और असहमति के सिवा सामान्य निश्चितता कहीं नहीं हो सकती। सामान्य ज्ञान हमें अपने अमूर्त प्रत्ययों पर मनन् करने से ही मिलता है। वास्तविक सत्ता के विषय में हमारे पास कोई स्वयंसिद्ध प्रस्तावनाएँ नहीं हैं (केवल अपने और ईश्वर को छोड़कर) और हम उन पर किसी विज्ञान का निर्माण नहीं कर सकते।

बहुत सी प्रस्तावनाएँ जिन पर हम विचार और क्रिया करते हैं ऐसी हैं कि हमें उनके विषय में असंदिग्ध ज्ञान नहीं हो सकता। उनमें कुछ निश्चितता इतने निकट हैं कि हम उनमें सन्देह न कर उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उपपद्यता (probability) के विभिन्न आधार और अंश होते हैं जैसे हमारे अपने अनुभव से संवादिता और दूसरों के अनुभव का प्रमाण। लॉक श्रुति (revelation) के प्रमाण को सबसे बड़ी निश्चितता मानता है, उसको स्वीकार करना ही आस्था है। आस्था स्वीकार करने और निश्चितता का सिद्धान्त है जिसमें कोई सन्देह या संकोच नहीं होता। हमें केवल इस बात का निश्चय होना चाहिए कि वह दैवी श्रुति है। अतएव बुद्धिपरक दृष्टि से हमारी स्वीकृति उसके श्रुति होने की गवाही से बड़ी नहीं हो सकती। किसी प्रस्तावना को दैवी

श्रुति नहीं माना जा सकता यदि वह हमारे स्पष्ट प्रज्ञा ज्ञान का विरोध करे तो। जो चीज हमारे ज्ञान का विरोध करती है आस्था उसको हमसे मनवा नहीं सकती। जिन शब्दों द्वारा हम किसी परस्परागत श्रुति को ग्रहण करते हैं या जिस अर्थ में उसे समझते हैं उससे उसके तर्क के सिद्धान्तों से स्पष्ट और निश्चित होने का कोई प्रमाण नहीं हो सकता। किंतु जो वस्तुएँ हमारी प्राकृतिक शक्तियों से बाहर और बुद्धि के ऊपर हैं वे श्रुत होने पर आस्था का सही विषय हैं। मुर्दे फिर उठकर जीवित होंगे यह आस्था का ही विषय है और इससे बुद्धि का कोई रिश्ता नहीं है।

तत्व समीक्षा (Metaphysics)

हमने ज्ञान के मूल, सत्यता और क्षेत्र के प्रश्नों पर लॉक का उत्तर सुन लिया है; अब हम उसके जगत-विषयक दृष्टिकोण को लेंगे जिस पर उसकी विचारधारा निर्भर है। उसने किसी अन्य पुस्तक में सत्य विषयक धारणा का प्रतिपादन नहीं किया किंतु उसके विचार उसके "एसे" में पाए जानेवाली दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित हैं। ज्ञान पर लगाए गए प्रतिबन्धों और अपनी संदेहास्पद बातों के बावजूद भी वह देकार्त द्वारा व्यवस्थित सामान्य शक्ति की तत्वसमीक्षा को कुछ हेर फेर के साथ अपनाता है।

जगत द्रव्यों से निर्मित है जो शक्तियों और गुणों के आधार या धारण करनेवाले हैं और जिनमें क्रियाएँ निहित रहती हैं और निस्सृत होती हैं; द्रव्य गुणों और क्रियाओं के कारण और आधार हैं। द्रव्य दो तरह के हैं : शरीर और आत्माएँ। शरीर ऐसा द्रव्य है जिसके विशेषण हैं प्रपंच, कठोरता या अभेद्यता, क्रियाशीलता या क्रिया शक्ति। ये शरीर के प्रमुख गुण (primary qualities) हैं जिन्हें हम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। अतएव बिना शरीर के प्रसर (space) अर्थात् शुद्ध शून्य हो सकता है। प्रसर की धारणा हम बिना ठोसपन के कर सकते हैं और गति शून्य का न होना सिद्ध करती है। भौतिक द्रव्यों के अतिरिक्त आत्माओं की सत्ता भी होती है। आत्मा एक वास्तविक सत्ता है, हमें उसका स्पष्ट प्रत्यय है। प्रत्यक्ष या विचार शक्ति और संकल्प या शरीर को गतिमय करने की शक्ति इसके गुण हैं। इन गुणों को हम विमर्श (reflexion) द्वारा जानते हैं। विचार करना आत्मा का स्वत्व न होकर उसकी क्रिया है। आत्मा अभौतिक द्रव्य है। मुझे आत्मा का प्रत्यय उतना ही स्पष्ट होता है जितना कि मूर्त (corporeal) द्रव्य का। कुछ मूर्त गुणों को एक साथ रखकर और उनके आधार को मानकर मैं शरीरमय द्रव्य का प्रत्यय बनाता हूँ। अपने मनस् की क्रियाओं, जैसे विचार करना, समझना, जानना, गति

को शुरू करने की शक्ति पर विमर्श करके और इन सबको किसी आधार से संयुक्त करके मैं आत्म-द्रव्य (soul-substance) का प्रत्यय बनाता हूँ। चूंकि पुद्गल (matter) के द्रव्य (आधार) का कोई स्पष्ट प्रत्यय नहीं है इसलिए वस्तुओं का न होना मानना उतना ही बुद्धिसंगत है जितना यह कहना कि चूंकि स्पिरिट के द्रव्य का कोई स्पष्ट प्रत्यय नहीं है इसलिए स्पिरिट भी नहीं है। "ठोसपन की भाँति ही विचार करने का स्पष्ट प्रत्यय रखते हुए मैं यह नहीं समझ पाता कि हम ठोसपन के बिना किसी विचारशील वस्तु की सत्ता क्यों नहीं मानते। जिस तरह हम विचारशील के बिना ठोस चीज की सत्ता मानते हैं उसी तरह हम पुद्गल (matter) की सत्ता की भाँति किसी अभौतिक सत्ता को भी मान सकते हैं क्योंकि पुद्गल में विचार योग्यता मानना पुद्गल के बिना विचार की सत्ता मानने से कहीं कठिन है।" मुझे इस बात का का अधिक निश्चित ज्ञान है कि मेरे अन्दर एक आध्यात्मिक सत्ता है जो देखती और सुनती है इस की अपेक्षा कि मेरे बाहर कोई मूर्त सत्ता है। अविचार-मय (incogitative) पुद्गल और गति विचार को उत्पन्न नहीं कर सकते और यह समझना भी कठिन है कि पुद्गल में, गति के बिना या उसके साथ, मूल रूप से अपने में ही अनुभूति, प्रत्यक्ष और ज्ञान कैसे हो सकता है।

शुद्ध स्पिरिट (ईश्वर) केवल सक्रिय है, पुद्गल निष्क्रिय है किंतु मनुष्य की आत्मा सक्रिय और निष्क्रिय दोनों है। उसमें शरीर को गतिमय करने की शक्ति है जो अनुभव से स्पष्ट है। वाह्य वस्तुएँ आत्मा में पविर्तन उत्पन्न करती हें। मनस् पर शरीर की क्रिया से ही हमारे सारे प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। यह अन्तर्क्रिया (Interactionism) की धारणा है। यह सच है कि हम यह कैसे होता है इसे नहीं जानते किन्तु हम यह भी नहीं जानते कि एक वस्तु दूसरी को गति कैसे देती है। हमें शरीर की अपेक्षा स्पिरिट में गति देने की सक्रिय शक्ति होने का अधिक स्पष्ट प्रत्यय है। विचारशील सत्ता की धारणा की अपेक्षा प्रपंचित सत्ता की धारणा आसान नहीं है।

मनस् और शरीर की वास्तविक सत्ता है और वे अन्तर्क्रिया करते हैं। वस्तुएँ मनस् पर क्रिया करके रंग, शब्द, स्पर्श, ठोसपन, प्रपंच आदि के संवेदन उत्पन्न करती हैं। इनमें से गौण गुण (secondary qualities) वाह्य वास्तविकता की सच्ची नकल नहीं होतीं, वस्तुएँ रंगमय, शब्दमय, गन्धमय, स्वाद-मय नहीं होतीं; ये तो प्रपंचित ठोस वस्तुओं द्वारा मनस् पर उत्पन्न किए गए प्रभाव हैं; प्रपंच, ठोसपन और गति के प्रत्यय वास्तविक वस्तुओं की सच्ची नकल हैं। वस्तुएँ गतिशील ठोस प्रपंचित चीजें हैं। किंतु जहाँ तक हम धारणा करते हैं वस्तु वस्तु को ही प्रभावित कर सकती है; और हमारे प्रत्ययों की

पहुँच के अनुसार गति गति ही उत्पन्न करती है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि ये सुख या दुख या शब्द या रंग के प्रत्यय को उत्पन्न करती है तो हम बुद्धि के क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं और उसे ईश्वर की मौज और इच्छा पर छोड़ देते हैं।

लॉक यहाँ एक कठिनाई पैदा करता है। यहाँ यंत्रवाद (mechanism) की धारणा अनुभव के तथ्यों के विरोध में आती है। यदि गति गति के अतिरिक्त और कुछ नहीं उत्पन्न कर सकती तो वह हमारे अन्दर चेतनताओं की अवस्थाओं को कैसे उत्पन्न कर सकती है? लॉक कहता है कि ईश्वर ने इन प्रभावों को गति से सम्बद्धित कर दिया है जिसे हम नहीं समझ सकते। यह संयोगवाद (Occasionalism) की ओर पलायन है। यह समझना कि मनस् गति को कैसे प्रारम्भ कर सकता है या संकल्प किसी क्रिया के होने का कारण कैसे बन सकता है उतना ही कठिन है।

किन्तु अन्य स्थलों पर लॉक यह कहकर कि जैसे गति गति कैसे उत्पन्न करती है इसे समझना कठिन है उसी तरह गति संवेदन और संवेदन गति कैसे उत्पन्न करते हैं इसे भी समझना कठिन है सब कठिनाइयों को ताक में रख देता है। अनुभव हमें बताता है कि वस्तु हर क्षण नष्ट होती रहती है। इन बातों पर लाक ने आत्मा की अभौतिकता की भाँति जब तब अपनी सम्मति दी है। सामान्य रूप से उसका मत यह है कि मानसिक व्यापार जड़ पुद्‌गल की क्रिया नहीं हो सकते; बिना किसी अभौतिक विचारमय सत्ता के संवेदन (sensation) नहीं हो सकते। मेरे अन्दर कोई आध्यात्मिक सता है जो देखती और सुनती है। किन्तु अपने अन्दर स्थित इस विचारशील सत्ता की प्रकृति के विषय में उसे कभी कभी संदेह भी होता है। शायद वह भौतिक हो और शायद भौतिक सत्ता विचार कर सकती हो। हम किसी द्रव्य की सच्ची प्रकृति को नहीं जानते, तो हम यह कैसे जान सकते हैं कि ठोस वस्तुएँ विचार नहीं करतीं और विचारमय सत्ता प्रपंचित नहीं होती? शायद हम यह कभी न जान सकें कि भौतिक सत्ता विचार करती है या नहीं। हम नहीं जानते कि विचार करना क्या है और ईश्वर ने किन द्रव्यों को वह शक्ति दी है जो ईश्वर की कृपा के बिना सृष्टि की किसी सत्ता में नहीं हो सकती। ईश्वर ने गति के साथ प्रभावों को सम्बद्धित कर दिया है जिसे हम नहीं समझ सकते। ईश्वर ने सृजित पुद्‌गल की किसी निश्चित व्यवस्था को कुछ आंशिक अनुभूति, प्रत्यक्ष और विचार क्यों नहीं दिए?

लॉक की व्यवस्था में ये कुछ कठिनाइयाँ और विरूपताएँ हैं। किंतु उसकी धारणा प्रधान रूप से द्वैत ही रहती है : मानसिक और भौतिक, जड़ और

चेतन, दो द्रव्य हैं। यहाँ वह केवल इतने भेद के साथ देकार्त से सहमत है कि वह अभेद्यता या ठोसपन को वस्तु का विशेषण (attribute) मानता है। वह तथ्यों की सबसे अच्छी व्याख्या के लिए देकार्त की परमाणुवादी (corpuscularian) धारणा को भी स्वीकार करता है। आकृति, आकार और गति शक्ति रखनेवाली अत्यन्त छोटी वस्तुएँ या परमाणु भी होते हैं। ये अदृश्य परमाणु पुद्गल के सक्रिय अंश और प्रकृति के ऐसे साधन होते हैं जिन पर उनके गौण गुण ही नहीं वरन् लगभग सारी प्राकृतिक क्रियाएँ निर्भर होती हैं। किन्तु हमें इन प्रमुख गुणों का कोई निश्चित और स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। किसी ने उनकी आकृति या गति को नहीं देखा है और न ही उनको एक सूत्र में ग्रथित रखनेवाली चीज को समझा है। यदि हम किन्हीं दो वस्तुओं के अत्यन्त सूक्ष्म भागों के आकार, रंग और गति को जान सकते तो हम बिना परीक्षा के उनकी एक दूसरे पर विभिन्न क्रियाओं को भी जान सकते जैसे कि हम त्रिकोण या वर्ग के गुणों को जानते हैं। हम इन बातों को नहीं जानते, हम यह भी नहीं जानते कि इन परमाणुओं को एकता में ग्रथित रखनेवाली चीज क्या है; हम नहीं जानते कि एक दूसरे को गति कैसे देता है, गति दूसरे में कैसे परावर्तित हो जाती है। अतएव यह परमाणुवादी मत हमारे मूर्त द्रव्यों के ज्ञान को बहुत कम आगे बढ़ाता है। जब तक हम वस्तुओं के गुणों और शक्तियों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं देखते तब तक हमारा ज्ञान अल्प है। अतएव वस्तुओं का कोई विज्ञान नहीं है। परमाणुवादी मत का सार्वभौम मत या जगत विषयक दृष्टिकोण होना असम्भव है।

शरीर और मनस् इन दो द्रव्यों के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक द्रव्य, ईश्वर, भी है। हमें ईश्वर का जन्मजात प्रत्यय नहीं है किंतु अपनी योग्यताओं के सही प्रयोग से हमें उसका ज्ञान हो सकता है। ईश्वर का होना उतना ही निश्चित है जितना कि त्रिकोण के तीनों कोणों के जोड़ का १८० के बराबर होना। अनुभव और देर (duration), ज्ञान और शक्ति, सुख और आनन्द आदि से जनित प्रत्ययों को लेकर हम असीमता के प्रत्यय के साथ उन्हें विस्तृत करते हैं और इस तरह उन सबको एक साथ रखकर ईश्वर का जटिल प्रत्यय बनाते हैं। हम उसके वास्तविक स्वत्व को नहीं जानते।

ईश्वर की सत्ता के लिए लाक कारणात्मक और लक्ष्यात्मक (teleological) सबूत देता है। मनुष्य अपनी सत्ता के विषय में निश्चित है। वह यह भी जानता है कि वास्तविक वस्तुएँ शून्य से नहीं आ सकतीं। अतएव यदि वास्तविक सत्ता है—मनुष्य जानता है कि वह एक वास्तविक सत्ता है—तो उसे उत्पन्न करने वाली किसी चीज को भी होना चाहिए। जो चीज अपनी सत्ता और आदि के

लिए अन्य सत्ता पर निर्भर हो उसमें होनेवाली सारी वस्तुओं को उसका निर्माण करनेवाली सत्ता में होना चाहिए। सारी सत्ता के शाश्वत उद्गम को सारी शक्ति का मूल होना चाहिए, इसलिए उसे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ होना चाहिए। अविचारमय पुद्गल विचारमय चीज उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि ईश्वर न ज्ञेय सत्ताएँ बनाई हैं तो उसने विश्व की अन्य कम सुन्दर चीजें भी बनाई हैं जो उसकी सर्वज्ञता और शक्ति का सबूत हैं। हम ईश्वर की भौतिक धारणा नहीं कर सकते। किंतु यदि वह भौतिक भी हो तो भी वह ईश्वर ही रहेगा। पुद्गल एक शाश्वत मनस् के साथ शाश्वत नहीं हो सकता। यदि यह पूछा जाय कि ईश्वर शून्य से किसी वस्तु को कैसे बनाता है तो लाक का उत्तर है कि हम यह नहीं बता सकते कि विचार गति कैसे पैदा कर सकता है किंतु फिर भी हम उससे इनकार नहीं करते।

आचार शास्त्र (Ethics)

अपने सामान्य दृष्टिकोण से समानता रखते हुए लाक आचारशास्त्र की एक अनुभववादी धारणा देता है जिसका पर्यवसान अहम्वादी सुखवाद (egoistic hedonism) में होता है। जिस तरह जन्मजात काल्पनिक सत्य नहीं हैं उसी तरह जन्मजात व्यावहारिक या नैतिक सत्य भी नहीं हैं। नैतिक निर्णय हम "हृदय पर लिखे" नियमों के बिना ही करते हैं। बहुत लोगों को इन नियमों की जानकारी उसी तरह होती है जिस तरह अन्य चीजों की और वे उन्हें कर्तव्य समझने में विश्वस्त होते हैं। दूसरे लोग उन्हें अपनी शिक्षा, वातावरण और अपने देश की परम्परा से समझते हैं। हम बच्चों को जो धारणाएँ सिखाना चाहते हैं उन्हें उनके मनस् में भर देते हैं और बच्चे जब बड़े होते हैं तो वे अपने मनस् पर अंकित इन धारणाओं को किसी के द्वारा सिखाई गई न मानकर प्रकृति या ईश्वर की देन समझते हैं। प्राप्त नैतिक ज्ञान पर आधारित हमारे कामों की उचित या अनुचित की धारणा ही विवेक है। "क्रियाओं का सम्बन्ध नियमों से है और इच्छित क्रियाओं की किसी नियम से सहमति या असहमति ही नैतिकता है।"

प्रश्न यह है कि ऐसे नैतिक नियम स्थापित क्योंकर हुए, उचित और अनुचित का ज्ञान आया कैसे? अनुभववादियों के अनुसार नैतिकता का सबसे बड़ा शिक्षक सुख और दुख है। प्रकृति ने मनुष्य को सुख की इच्छा और दुख से बचने की लालसा दी है और यही प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ या व्यावहारिक सिद्धान्त उसके सारे कामों को प्रभावित करते हैं: किंतु वे बुद्धि के सत्य न होकर उसके रुझान ही हैं। जिससे सुख मिलता है उसे हम अच्छा कहते हैं और जिससे दुख

होता है उसे बुरा कहते हैं। हरेक व्यक्ति बराबर सुख चाहता है और यही चाहना या व्यग्रता संकल्प को निर्धारित करती है। आनन्द हमारा सुख है और कष्ट दुख। आचरण के कुछ प्रकार सामाजिक सुख लाते हैं और समाज को अक्षुण्ण रखते हैं और कर्त्ता को भी लाभ पहुँचाते हैं। ईश्वर ने गुणों और सामाजिक सुख को मिलाकर समाज के लिए गुणों का व्यवहार अनिवार्य कर दिया है। मनुष्य व्यवहार के इन रूपों को खोजते हैं और उन्हें नियम मान लेते हैं। नैतिक नियमों का पालन करने से हरेक को लाभ होता है इसलिए वह उन नियमों की संस्तुति करता है।

जो अच्छाई या बुराई किसी काम का प्राकृतिक परिणाम न हो, यदि किसी को उसके पालन का इनाम और पालन न करने पर दण्ड देने की शक्ति न हो, तो उस व्यक्ति का दूसरों के लिए क्रियाओं का नियम बनाना व्यर्थ होगा। यदि कामों के प्राकृतिक परिणामों में ही पर्याप्त उद्देश्य शक्ति हो तो विधान की कोई आवश्यकता न हो। नियम विधाता की शक्ति और संकल्प से नियम सुख दुख का इनाम और दण्ड देते हैं जिससे मनुष्यों के संकल्प निर्धारित होते हैं। नियम तीन तरह के हैं, दैवी, सामाजिक और प्रसिद्धि के। दैवी नियम से ईश्वर ने मनुष्य के कर्मों को निर्धारित कर दिया है जो उन्हें प्रकृति या श्रुति से प्राप्त होते हैं। ईश्वर में इस नियम को दूसरे जीवन में असीम दण्ड या इनाम देकर कार्यान्वित करवाने की शक्ति है। यह कर्तव्य और पाप का प्रश्न है। सामाजिक नियम समानतंत्र (commonwealth) द्वारा निर्मित होते हैं और उन पर वैधानिक इनाम या दण्ड मिलता है। यहाँ अपराध या निरपराध की धारणा है। किंतु अधिकांश मनुष्य प्रधानतया फैशन के नियम से संचालित होते हैं। सामाजिक मान्यताओं के अनुसार बनने में सामाजिक संस्तुति और अपमान मनुष्यों के लिए अत्यन्त तीव्र प्रेरणादायक होता है। मनुष्य जिस समाज में रहता है वह उन लोगों के प्रतिकार और फैशनप्रियता की उपेक्षा नहीं कर सकता। गुणों का आदर हर जगह होता है और गुण वही है जो समाज को प्रिय है। मनुष्य इन नियमों से अपने कर्मों की तुलना करते हैं और उनसे सहमति या असहमति होने को ही अच्छा या बुरा कहते हैं। गुण की सही अनुज्ञप्ति ईश्वर का संकल्प (will) है। ईश्वरीय संकल्प और नियम ही नैतिकता की कसौटी हैं।

गुण और दोष सब जगह समान हैं और ईश्वर द्वारा स्थापित अच्छाई और बुराई के अटल नियमों से संवादिता रखते हैं। ईश्वरीय नियमों का पालन मानवजाति को हित पहुँचाता है, अतएव बुद्धिवादी मनुष्य जिन्हें अपने हित का ध्यान है अच्छाई का पक्ष लेने और बुराई को दोष देने में नहीं चूक सकते।

यह नैतिकता की पुरानी यूनानी सुखवादी (hedonistic) व्याख्या है जिसे

ईसाई ईश्वरवाद की संकुचित धारणा से अनुपूरित कर दिया गया है। अपने प्रति या दूसरों के प्रति अच्छाई करना ही गुण है। जीवन के टिकाऊ सुख, स्वास्थ्य, प्रसिद्धि, ज्ञान, भलाई करना और दूसरी दुनियाँ में निरन्तर सुख पाने की आशा में है।

हम अनुभव से नैतिकता का ज्ञान किस भाँति पाते हैं लाक इसे समझा है। उसके विचार से हम इस ज्ञान को कुछ प्राथमिक सिद्धान्तों से तर्क द्वारा पा सकते हैं। गणित की भाँति नैतिकता भी प्रदर्शित की जा सकती है। "असीम शक्ति, अच्छाई और ज्ञान वाली सर्वोपरि सत्ता का प्रत्यय, जिस पर हम निर्भर हैं और जिसने हमारा निर्माण किया है और हमारा बुद्धिपरक सत्ता होने का प्रत्यय हमें इस तरह के कर्तव्यों और क्रियाओं के नियमों का आधार देता है जिससे नैतिकता एक प्रदर्शन किया जा सकनेवाला विज्ञान हो जाता है।" "जहाँ सम्पत्ति नहीं है वहाँ अन्याय नहीं है, यह प्रस्तावना गणित की भाँति ही एक निश्चित प्रदर्शन है।" "कोई शासन पूरी स्वतंत्रता नहीं देता; शासन कुछ नियमों को स्थापित करता है और पूरी स्वतंत्रता का अर्थ है मनमानी करना, इसलिए मैं इस प्रस्तावना के विषय में गणित की किसी प्रस्तावना की भाँति ही निश्चित हो सकता हूँ।"

दूसरे शब्दों में अच्छे और बुरे का ज्ञान हमें अनुभव से होता है जो प्रदर्शनात्मक और श्रुत ज्ञान है जिसमें परस्पर सहमति है। ईश्वर ने इसे इस तरह नियोजित किया है कि सुख की इच्छा होने पर मनुष्य एक नैतिक संहिता (code) बना सके। ईश्वर ने मनुष्य को प्रदर्शन से नैतिक सत्य प्राप्त कर सकने के लिए बुद्धि भी दी है और उसने धर्मग्रंथों में उन्हीं नियमों को दिया है जो तर्क और अनुभव से पाए जा सकते हैं।

संकल्प-स्वातंत्र्य (Freewill)

लाक के अनुसार स्वतंत्रता इच्छा या पसन्द करने का प्रत्यय नहीं है किंतु वह उस मनुष्य का प्रत्यय है जो अपने मनस् के निर्देशन में किसी काम को करने या न करने की शक्ति रखता है। हम किसी मनुष्य के संकल्प को स्वतंत्र नहीं कह सकते, "ऐसा कहना उसी भाँति निरर्थक है जैसा कि नींद को तेज या गुण को वर्गाकार कहना।" संकल्प मनुष्य की अपने कामों को करने या न करने की शक्ति या योग्यता है। स्वतंत्रता दूसरी शक्ति या योग्यता है जो मनुष्य से किसी काम को उसके संकल्प के अनुसार कराती या नहीं कराती है। इसलिए जब हम पूछते हैं कि क्या संकल्प (will) स्वतंत्र है? तो हम वास्तव में यह पूछते हैं कि क्या एक शक्ति में दूसरी शक्ति है? जो अनर्गल है। तो क्या

संकल्प द्रव्य है या कर्ता संकल्प शक्ति या द्रव्य नहीं है। मनुष्य वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह अपने मनस् के आदेशानुसार सोचने या न सोचने, करने या न करने की शक्ति रखता है। जब वह अपने मनस् के अनुसार किसी काम को करने या न करने की शक्ति नहीं रखता तो वह स्वतंत्र नहीं होता यद्यपि उसकी क्रिया ऐच्छिक हो सकती है। हमारा संकल्प किसी दबाव की व्यग्रता से ही हमसे वह कराता है जो हम करते हैं। यह व्यग्रता इच्छा है जो मनस् की अनुपस्थित अच्छाई को पाने की व्यग्रता है। ईश्वर ने मनुष्य को भूख, प्यास और अन्य प्राकृतिक इच्छाओं की व्यग्रता दी है जिससे उनका संकल्प उनको संरक्षित और उनकी जाति को अक्षुण्ण रखता और बढ़ाता है। संकल्प को वही व्यग्रता निर्धारित करती ह जिसका दबाब अधिक होता है। इच्छा को जन्म देने वाली चीज आनन्द है।

राजनीति

लाक की राज्य-विषयक धारणा उसकी "टू ट्रिटिस आन् गवर्नमेंट" में पाई जाती है। पहली में सर राबर्ट फिल्मर (मृत्यु—१६५३) की निरंकुशतावादी पुस्तक "पटरियार्की" का खण्डन है। दूसरी में लाक ने "सामाजिक शासन का मूल, उसकी सीमा और लक्ष्य पर बहस की है।" वह इस मत का विरोध करता है कि सब शासन निरंकुश राजतंत्र (absolute monarchy) है, राजाओं को सर्वोपरि शक्ति का दैवी अधिकार है और मनुष्यों को प्राकृतिक स्वतंत्रता और समानता का कोई अधिकार नहीं है। मनुष्यों को बिना किसी के संकल्प पर निर्भर हुए या बिना उनसे पूछे प्रकृति के नियमों की सीमा में अपने आधिपत्य को छोड़ देने और अपने कामों को व्यवस्था देने की पूरी स्वतंत्रता है। एक मनुष्य की दूसरे से अधिक शक्ति या न्यायक्षेत्र न होने से उनमें प्राकृतिक समानता भी है। प्रकृति या बुद्धि का नियम यह सिखाता है कि चूंकि सब मनुष्य समान हैं अतएव किसी को दूसरे के जीवन, स्वतंत्रता और आधिपत्य को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। हरेक अपना और मानव जाति का संरक्षण करने पर बाध्य है यदि उसका संरक्षण प्रतियोगिता में नहीं पड़ता तो। प्रकृति की अवस्था में हरेक को इस नियम को भंग करनेवाले को दण्ड देने, सीधे-सादों को बचाने, आततायियों को रोकने और हानि का बदला लेने की शक्ति है। दण्ड वहीं तक दिया जाय जिससे आततायी को लाभ न हो सके, वह पछताए और जिससे दूसरे उस काम को करने से डर जाएँ।

प्रकृति की अवस्था युद्ध की अवस्था (जैसा हाब्स ने माना था) न होकर शांति, मेलजोल और शुभेच्छाओं की अवस्था है। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस तरह की है कि उसकी सुविधाओं और प्रवृत्तियों ने उसे समाज में ढकेल दिया है और बुद्धि और भाषा द्वारा उसका सुख लेने का साधन दे दिया है। किंतु प्रकृति की अवस्था में बहुत चीजों का अभाव है : उसमें कोई निश्चित ज्ञेय नियम नहीं होता; पक्षपातरहित अधिकारी न्यायकर्ता नहीं होता, ठीक होने पर किसी दंडाज्ञा का समर्थन और उसकी कार्यनिष्पत्ति करने की शक्ति नहीं होती। जब मनुष्यों का कोई समुदाय इस तरह ग्रथित हो जाता है कि हरेक समाज के लिए प्रकृति के नियम की अपनी कार्यकारिणी शक्ति को त्याग देता है, जब मनुष्य समाज में मिलकर एक हो जाते हैं और एक सर्वोपरि शासन के अन्तर्गत राजनैतिक एकता पा लेते हैं तब राजनैतिक समाज बनता है (अनुबन्ध सिद्धान्त, contract theory)।

अतएव निरंकुश राजतंत्र समाज के विरुद्ध है। यदि राजा के हाथ में व्यवस्थापिका (legislative) की और कार्यकारिणी (executive) की शक्ति हो तो कोई पक्षपात रहित न्याय करने वाला नहीं रहता और कोई निश्चित नियम नहीं रहता, प्रजा एक व्यक्ति की गुलाम हो जाती है अपनी मर्जी के बिना कोई किसी एक व्यक्ति की राजनैतिक शक्ति के मातहत नहीं हो सकता। जब सब लोग अपनी मर्जी से एक समुदाय बना लेते हैं तो वह संप्रदाय एक अंग वन जाता है और एक अंग होने के नाते की शक्ति से काम करता है। इस तरह के समाज के बन जाने पर प्रत्येक व्यक्ति बहुमत द्वारा बनाए नियमों के अनुसार उस समाज के हर व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी हो जाता है। नहीं तो यदि वह प्रकृति की अवस्था में ही रहे तो समाज में एकता नहीं हो सकती। सबका मत पा लेना असम्भव है। दुनियाँ के शासन लोगों की मर्जी से बने हैं।

मनुष्य अपनी स्वतंत्रता और शक्ति को त्याग देता है क्योंकि वे अनिश्चित हैं और उनके कारण दूसरे लोगों के आक्रमण की आशंका रहती है, क्योंकि यदि हरेक अपने को राजा और सबके बराबर समझे तो इस दशा में सम्पत्ति का उपभोग बड़ा अरक्षित हो जायगा क्योंकि न्याय और समता को देखने वाला कोई न रहेगा। यदि मनुष्य पतित और भ्रष्ट न हों तो प्रकृति की अवस्था के सिवा समाज की कोई आवश्यकता न रहे। मनुष्य अपने जीवन, स्वतंत्रता आदि की रक्षा के लिए ही समानतंत्र (common wealth) का निर्माण करता है। अतएव समाज की कोई शक्ति सबके भले से आगे नहीं हो सकती।

व्यवस्थापिका (legislative) को भी शासित करने वाला पहला प्राकृतिक

नियम समाज और उसके सदस्यों का संरक्षण है। सारे समानतंत्रों का पहला भावात्मक नियम व्यवस्थापिका शक्ति की स्थापना है। यह व्यवस्थापिका सर्वोपरि ही नहीं वरन् अपरिवर्तनीय भी है क्योंकि उसे संप्रदाय बनाता है सम्प्रदाय द्वारा बनाई और चुनी गई इस व्यवस्थापिका की अनुज्ञप्ति के बिना किसी आदमी की घोषणा नियम की उत्तरदायिता या शक्ति नहीं बन सकती। किंतु व्यवस्थापिका की शक्ति लोगों के भाग्य और जीवन के ऊपर नहीं हो सकती, वह समाज के भले तक ही सीमित है। प्रकृति के नियम समाज में खत्म नहीं हो जाते वे व्यवस्थापकों और अन्य लोगों के लिए शाश्वत नियम हैं। अतएव इसे लोगों को गुलाम बनाने, नष्ट करने या गरीबी में डालने का कोई अधिकार नहीं है। व्यवस्थापिका (legislative) को तत्कालिक स्वच्छन्द प्रनिश्चयों (decrees) से शासन करने की शक्ति नहीं है, उसके लिए स्थाई नियमों का होना जरूरी है। सर्वोपरि शक्ति व्यक्ति की मर्जी के खिलाफ उसकी सम्पत्ति को नहीं ले सकती; बहुमत होने पर ही कर लगाया जा सकता है। वह किसी दूसरे को विधान बनाने का अधिकार नहीं दे सकती।

जो लोग विधान बनाने की शक्ति रखते हों उन्हें उसको कार्यान्वित करन की शक्ति भी हो ऐसा नहीं है। संघात्मक (federative) शक्ति समानतंत्र के बिना युद्ध और शांति, मेल और मित्रता, सब लोगों और समाजों से कारोबार करने की शक्ति है। संघात्मक और कार्यकारिणी (executive) शक्तियों में सदा एकता रहती है और यदि वे एक ही व्यक्ति में हों तो बहुत अच्छा है। विधान को कार्यान्वित करने का काम कार्यकारिणी (executive) का है इसलिए उसे किसी और की मातहती में नहीं होना चाहिए। किंतु यदि कोई कुशासन का कारण आ पड़े तो व्यवस्थापिका (legislative) अपने द्वारा दी गई कार्यकारिणी और संघात्मक दोनों शक्तियों को अपने हाथ में ले सकती है। व्यवस्थापिका सर्वोपरि शक्ति तो है किंतु वह कुछ उद्देश्यों के अनुसार काम करने की न्यास-धारी (fiduciary) शक्ति ही है। इसलिए यदि व्यवस्थापिका लोगों के विश्वास के विरुद्ध काम करे तो उन्हें उसको बदलने या हटाने का सर्वोपरि अधिकार है। किसी शासन में व्यवस्थापिका ही सर्वोपरि शक्ति है। व्यवस्थापिका को चुनने की शक्ति जनता में है। समानतंत्र (commonwealth) की आत्मा राजा न होकर, जैसा कि हाब्स का मत था, व्यवस्थापिका (legislative) है जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है। इस बात का निर्णय जनता ही करती है कि राजा या व्यवस्थापिका उनके विश्वास के विरुद्ध काम नहीं कर रहे हैं।

आधुनिक युग के सभी महान् दार्शनिकों की भाँति लाक परम्परा से चली आई शास्त्रीय (scholastic) शिक्षा प्रणाली में दोष पाकर अपनी अनुभव-

वादी आचारिकता और मनोविज्ञान पर अवलम्बित नवीन शिक्षा योजना को उपस्थित करता है। चूंकि आत्मा जन्म के समय सुख की इच्छा और वाह्य चीजों की छाप ग्रहण करने की शक्ति के अतिरिक्त और सब सिद्धान्तों से शून्य होती है इसलिए शिक्षा की समस्या अनुभव से सीखना और सुख प्राप्त कर सकना होना चाहिए। इसके लिए शरीर का स्वस्थ और इन्द्रियों का ठीक होना जरूरी है; व्यायाम और आदतों से शरीर को पुष्ट बनाना चाहिए। अतएव बच्चे को शारीरिक व्यायाम और सादे जीवन की आवश्यकता है। बच्चे के व्यक्तित्व का विकास प्राकृतिक ढंग से होना चाहिए। अतएव घरेलू शिक्षा ही अधिक अपेक्षित है। लाक खेलकूद से बच्चे को शिक्षा देना और उसके मनस् को जागरूक करने पर जोर देता है। शिक्षा को रुचिकर होना चाहिए। शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य को नहीं भूलना चाहिए : शिक्षा इस तरह की होनी चाहिए जिससे बच्चा समाज का लाभदायक सदस्य बन सके।

—:o:—

८

लॉक के उत्तराधिकारी

(Successors of Locke)

लॉक का प्रभाव

लाक की शिक्षाएँ अनेक विचारधाराओं का आदि बिन्दु हैं और देकार्त की भाँति लाक का प्रभाव उसके देश और काल की सीमाओं से बहुत आगे तक जाता है। किसी महान् पुरुष के विषय में शिलर का यह कथन कि "उसमें सदियों तक बने रहने की शक्ति थी" लाक पर भी घटता है। आधुनिक दर्शन के इतिहास में उसका "एसे" ज्ञान विषयक धारणा का पहला विशद प्रयत्न था जिसके द्वारा उत्पन्न आन्दोलन से बार्कले, ह्यूम और कांट जैसे विचारक पैदा हुए। उसके अनुभववादी मनोविज्ञान से अँग्रेजी संवासवाद (associationism; ब्राउन, हार्टले) और फ्रांसीसी संवेदनवाद (sensationalism; कोंदिलैक, हेल्वेतियस) को प्रेरणा मिली। उसके आचार दर्शन में शैफ्ट्सबरी हुचिसन, फर्गुसन, ह्यूम और आदम स्मिथ द्वारा संशोधन होते रहे। उसकी शिक्षा कीधारणा ने फ्रांस के महान् लेखक रूसो को और उसके द्वारा सारे संसार को प्रभावित किया। उसके राजनैतिक विचार वाल्तेयर, मान्तेस्कू, रूसो आदि द्वारा प्रतिपादित होते रहे और इँग्लैंड और फ्रांस के ईश्वरवादियों (deists) का धार्मिक आन्दोलन भी उसके विचारों की स्पिरिट से बल पाता रहा। प्रबुद्ध-काल (Enlightenment) की ओर ले जानेवाली ताकतें किसी और विचारक की अपेक्षा लाक में ही अधिक थीं। वह आधुनिक युग की स्वतंत्रता और आलोचना, व्यक्तिवाद, लोकतंत्रवाद और धार्मिक सुधार और अट्ठारहवीं सदी के प्रबुद्धकाल में चरम सीमा तक पहुँचनेवाली सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों की राजनैतिक क्रांतियों की स्पिरिट का प्रतिनिधि है। वह लोगों और समाज के ऊपर अपने विचारों की छाप छोड़ सकने में अत्यन्त सफल हुआ है।

ईश्वरवादी (Deists)

लाक की "रीजनेबिलनेस् आव् क्रिश्चियेनिटी" पुस्तक से ईश्वरवाद (deism)

एक जीवित आन्दोलन की भाँति शुरू होता है (१६९५)। लाक ने बुद्धि को श्रुति की कसौटी माना था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रुत सत्य बिल्कुल निश्चित होते हैं किंतु श्रुति की कसौटी मानवी बुद्धि है। लाक ने हर्बर्ट आव् शेरबरी के साथ प्राकृतिक या बौद्धिकवाद ईश्वरवाद की कुछ प्रस्तावनाओं को निश्चित मान लिया था किंतु वह उन्हें जन्मजात नहीं मानता था। ईश्वरवादी (deists) श्रुति को बुद्धि के अन्तर्गत करके लाक के इन विचारों को उपयोजित करते हैं और प्रकृति के नियमों में ईश्वर की अभिव्यक्ति खोजते हैं। इस आधार पर ईसाई धर्म को एक बौद्धिक धर्म बना दिया गया है; वह रहस्यवादी न होकर सृष्टि की भाँति ही प्राचीन है। जान टोलैण्ड ने "क्रिश्चियेनिटी नाट् मिस्टीरियस" पुस्तक लिखी जो ऐंग्लिकन चर्च द्वारा तिरस्कृत की गई थी। टोलैण्ड एक प्रकृति-धर्म में विश्वास करता है जिसे वह सर्वेश्वरवाद (pantheism) नाम देता है (सर्वेश्वरवाद शब्द पहले उसी ने गढ़ा था)। ए० कोलिन्स "डिस्कोर्स आव् फ्री थिंकिग्" लिखकर बाइबिल की आलोचनात्मक बहस में चर्च की दखल का विरोध करता है। कोनिवियर (१७३२) और जोजेफ बटलर (१७३६) ईश्वरवाद (deism) के विरुद्ध श्रुत (revealed) धर्म की रक्षा करते हैं।

अपने ज्ञान के मूल के विवरण में लाक संवेदन (sensation) और विमर्श (reflection) में भेद करता है। वह मनस् में संवेदन की सामग्री पर क्रिया करने वाली कुछ शक्तियों को मानता है। उसके अनेक अनुयायियों ने मनस् के सारे व्यापारों (processes), विमर्श और शक्तियों, की व्याख्या रूपान्तरित संवेदनों (transformed sensations) की भाँति करने का प्रयत्न किया है; विमर्श और समझने की शक्ति को संवेदन से आत्मसात् कर दिया गया है। इस मत को पीटर ब्राउन, बिशप आव् कार्क (मृत्यु १७३५) ने उपस्थित किया है जिस पर फ्रांसीसी पादरी एतीन द' कोंदिलैक ने विस्तार के साथ काम किया है। कोंदिलैक ने यह दिखाने की कोशिश की है कि केवल एक ही इन्द्रिय—जैसे गंध की—रखनेवाला जीव किस तरह बारी बारी स्मृति, सुख, दुख, उपमान (comparison), इच्छा, संकल्प आदि को विकसित कर लेता है। उपमान से, जो संवेदन की बहुविधता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, निर्णय विमर्श, तर्क और समझ आदि जन्म लेती हैं। विमर्श या अहम् (ego) उन संवेदनों की राशि है जो अब हममें हैं और थे। वाह्य जगत, प्रपंच, रूप, ठोसपन, का प्रत्यय पाने के लिए स्पर्श की अनुभूति का होना अपेक्षित है। स्पर्श से हम वाह्य सत्य—अपने से अलग भी कुछ है—को जानते हैं, किंतु अपने से अलग इस 'कुछ' की प्रकृति क्या है इसे हम नहीं जानते।

संवेदनवाद एक न एक रूप में इँग्लैंड और फ्रांस में सर्वप्रिय हो गया। संवेदन-

वाद के अनुयायी हार्टले, प्रीस्टले, इरैस्मस डारविन, जेम्स मिल, जेरेमी बेन्थम, हेल्वेतियस, कोंदोरसे, वोल्नी, इन्साइक्लोपीडिस्ट्स और भौतिकवादी थे। चार्ल्स द वोने (१७२०-१७९३) नरम संवेदनवाद का प्रतिपादक था किंतु वह निम्न और उच्च सभी मानसिक क्रियाओं को मस्तिष्क की तरंगों पर आधारित मानता था जिनसे अभौतिक आत्मा में प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। हेल्वेतियस ने संवेदनवाद को आचारिकता पर उपयोजित किया।

प्रत्ययों के संवास् (association) का नियम (मनस् में प्रत्यय एक निश्चित क्रम से संवासित होते हैं), जिस पर अरस्तू और हॉब्स ने ध्यान दिया था और जिस पर लॉक और गे ने बहस उठाई थी, डेविड हार्टले (१७०५-१७५७) द्वारा विस्तार के साथ एक व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया गया था। अनुभव-वादियों के अनुगामी ह्यूम, कोंदिलैक, प्रीस्टले, मिलबन्धु, बन्थम और अन्य मनो-विज्ञानियों द्वारा मानसिक जीवन की व्याख्या के लिए इस नियम का प्रयोग एक प्रमुख सिद्धान्त के रूप में किया गया है और उसे इस धारणा से मिला दिया गया है कि हमारे सब प्रत्यय संवेदनों की नकल हैं। इसका प्रयोग आचार दर्शन में नैतिक भावनाओं की व्याख्या के लिए किया गया है। मनुष्य अपने सुखों को उन चीजों से सम्बन्धित करना सीखता है जो उसे सुख देती हैं; नैतिक भावनाएँ हमारे बहुत से सुलाभ देती हैं और हम धीरे-धीरे अपने लगाव को इनसे हटाकर उन्हें देने वाली वस्तुओं पर आरोपित करने लगते हैं और इस तरह सद्गुणों को सद्गुणों लिए ही चाहने लगते हैं।

आचार-दर्शन

अँग्रेजी अनुभववाद उचित और अनुचित का ज्ञान अनुभव से प्राप्त करता है और नैतिकता को आत्म संरक्षण या सुख की इच्छा पर आधारित करता है। यह ठीक है कि बेकन ने सामाजिक भाव की उपेक्षा नहीं की थी किंतु लॉक और हॉब्स ने मानवी प्रकृति की धारणा अहम्वादिता पर आधारित करके की और नैतिकता को स्वार्थ माना। इस तरह की अनुभववादी और अहम्वादी धारणा के विरुद्ध कुडवर्थ, क्लार्क और वोलैस्टन जैसे बुद्धिवादी विचारकों ने आवाज उठाई। क्लार्क ने कहा कि समान परिस्थिति में मुझे दूसरों के प्रति वही करना चाहिए जो वे मेरे प्रति करेंगे, इससे इनकार करना ऐसा है "जैसे कोई आदमी इससे सन्तुष्ट हो कि यद्यपि दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं किंतु वे दो और तीन के बराबर नहीं होते।" "रिचर्ड कम्बलैंड (१६३२-१७१९) ने, जिसे अँग्रेजी उपयोगितावाद (utilitarianism) का जन्मदाता कहा जा सकता है, जन्मजात नैतिक ज्ञान की बुद्धिवादी धारणा को स्वीकार नहीं किया, किंतु उसने

अहम्वादी धारणा को भी गलत ठहराया जिसके अनुसार मनुष्य स्वार्थ की भावनाओं का एक गट्ठर ही रह जाता है। स्वार्थ के साथ मनुष्य में सहानुभूति या उदारता भी है। सबसे बड़ी अच्छाई सामाजिक जीवन या सबका हित है और हम अपनी बुद्धिपरता और सामाजिक अनुभूति से इसके योग्य हैं।

लॉक के बाद के अँग्रेजी आचार शास्त्री हमारे नैतिक ज्ञान को बुद्धि या सही और गलत के जन्मजात प्रत्ययों पर आधारित न करके अनुभूति या प्रवृत्ति पर आधारित करते हैं किंतु वे इन अनुभूतियों को मानवी प्रकृति की जन्मजात वृत्ति समझते हैं। लार्ड शैफ्ट्सबरी (१६७१-१७१३) के अनुसार मनुष्य में स्वार्थ और समाज प्रियता होती है और इन दोनों का उचित संतुलन ही सद्गुण है और इस संतुलन को हमारा नैतिक ज्ञान बताता है। इन विचारों को फ्रांसिस हुचिसन (१६९४-१७४७) एक व्यवस्थित रूप देता है और पहली बार इस सूत्र का प्रयोग करता है : अधिकांश का अधिकांश सुख (the greatest happiness of the greatest number)। डेविड ह्यम, आदम फर्गुसन और आदम स्मिथ (१७२३९०), जो नैतिक नियम की कसौटी और उद्गम को सहानुभूति में मानता है, इसी संप्रदाय के ह। ये सब लेखक मानवी प्रकृति की अनुभूति पक्ष के साथ पूरा न्याय करते हैं : हमारे नैतिक निश्चयों और क्रियाओं का मूल अनुभूति में है, बुद्धि में नहीं। उनमें से बहुत से प्रज्ञावादी (intuitionist) हैं : उद्देश्य या कर्म में या तो कोई जन्मजात नैतिक भावना भेद करती है या फिर नैतिक निश्चय सहानुभूति पर आधारित हैं। उनमें से सब सबके हित को ही सर्वोच्च अच्छाई मानते हैं। कम्बलैंड और शैफ्ट्सबरी उसे पूर्णता और अन्य लोग सुख मानते हैं यद्यपि पूर्णता और सुख में अभी तक कोई स्पष्ट भेद नहीं किया गया है।

जोजेफ बटलर (१६९२-१७५२) इसी संप्रदाय का है किंतु वह विवेक पर अधिक जोर देता है और विवेक को अनुभूति न मानकर विमर्श-सिद्धान्त मानता है। "हरेक मनुष्य में विमर्श सिद्धान्त है जो उसके आन्तरिक सिद्धान्तों और वाह्य कर्मों में भेद करता है, जो मनुष्य और उसके कामों पर निर्णय देता है और कुछ कामों को अपने आप में उचित और अच्छा और कुछ को बुरा, अनुचित और गलत ठहराता है। हम यदि उसके परामर्श से काम न करें तो वह एक शासक की भाँति हमारे कामों का समर्थन या तिरस्कार कर देता है।" यदि इस सिद्धान्त में न्याय के साथ शक्ति भी होती तो यह जगत पर निरंकुश शासन करता। बटलर व्यक्ति के सुख में ही बुद्धिपरता का परम मापदण्ड पाता है, सही और गलत के मनोवैज्ञानिक उद्देश्य में नहीं। यदि हम अपने सच्चे सुख को समझते हों तो विवेक या कर्तव्य और स्वार्थ हमें एक ही मार्ग पर ले जाते हैं। वे दोनों इस जगत में बहुत हद तक समान ही हैं किंतु भविष्य और सम्पूर्णता की दृष्टि

से वे पूरी तौर से समान हैं। हमारे सुख-दुख के प्रत्यय ही अधिक समीप होने से हमारे लिए बड़े जरूरी हैं। यदि उनमें कोई एकरूपता हो, जो असम्भव ही है, तो उन्हें हमारे व्यवस्था, सौंदर्य और सामंजस्य के प्रत्ययों को भी मान्य होना चाहिए। यदि कोई बात हमारे सुख के लिए नहीं है या उसके विरुद्ध है तो हम चाहे कितना ही मनन् करें तो भी उचित और अच्छे या किसी और अनुधावन को न्यायोचित नहीं ठहरा सकते।

विलियम पेली नैतिक बोध को अस्वीकार करते हुए यह मानता है कि कर्मों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार आँकना चाहिए। जो कार्यसाधक है वह सही है। "सद्गुण वही है जो ईश्वर के संकल्प पालन और सदा रहनेवाले सुख के लिए मनुष्य जाति के प्रति किया जाता है।"

शैफ्ट्सबरी के विरोध में बर्नार्ड मैन्डेविल (१६७०-१७३३) ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि स्वार्थ सार्वजनिक हित के लिए उदारता से अधिक लाभदायक है। हेलवेतियस (१७१५-७१) हॉब्स और मैन्डेविल का अनुसरण करता हुआ अहम्वाद को मानवी कर्मों का एकमात्र उद्देश्य और स्वार्थता को नैतिकता की कसौटी मानता है। मनुष्य को नैतिक बनाने का एक यही रास्ता है कि उसे सार्वजनिक हित में उसका हित दिखाया जाय और यह केवल व्यवस्थापक-मंडल (legislature) द्वारा इनाम और दंड की व्यवस्था से ही हो सकता है। नैतिक विज्ञान व्यवस्थापक-मंडल के विज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है। यह मत लॉक का ही मत है जिसमें से ईश्वरवादी बातें निकाल ली गई हैं।

अर्थशास्त्र

लॉक, पेली और बटलर में पाया जाने वाला यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण फ्रांसीसी अधिभूतवादियों (Physiocrats; फ्रान्सुआ कुइस्ने, १६९४-१७७४; ए० तर्गो, १७२७-१७८१) के आर्थिक मत में और आदम स्मिथ की "वेल्थ आव् नेशन्स" पुस्तक में प्रदर्शित होता है। ये सब लोग यूरोप में मध्ययुग की समाधि पर उदय होने वाली व्यापारिक व्यवस्था का विरोध करते हैं। नया अर्थशास्त्र इस धारणा पर आधारित है कि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति को समाज के हस्तक्षेप के बिना काम करने का प्राकृतिक अधिकार है। इस धारणा के पीछे यह मान्यता है कि अनियंत्रित प्रतियोगिता से अप्राकृतिक प्रतिबन्ध (एकाधिकार या विशेषाधिकार) के हटाने से, विनिमय की स्वतंत्रता से, अनुबन्ध और सम्पत्ति की रक्षा से लोगों के स्वार्थ से उन्हीं का नहीं वरन् समाज का भी हित होगा। समाज का निर्हस्तक्षेप (laissez faire) प्राकृतिक अधिकारों की सामान्य माँग थी जो व्यक्ति

के लिए उसके जीवनयापन, स्वतंत्रता और सुख का मार्ग खोल देना चाहती थी इस बात को मानकर कि इससे सामाजिक न्याय हो सकेगा। "प्राकृतिक स्वतंत्रता की साधारण और स्पष्ट व्यवस्था अपनी स्थापना स्वयं कर लेती है (ए० स्मिथ)। इस मान्यता ने पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने और व्यक्ति को हानिकारक प्रतिबन्धों से मुक्त करने में बड़ी सहायता दी।

—:o:—

१०

जॉर्ज बार्कले

समस्या

लॉक के अनुसार वस्तुएँ मनस् में प्रपंच, ठोसपन, गति, रग, शब्द, स्वाद, स्पर्श, गन्ध आदि के प्रत्यय या संवेदन उत्पन्न करते हैं। इनमें से कुछ तो वस्तुओं की यथार्थ नकल, या प्रमुख गुण, होते हैं और कुछ हमारे ऊपर वस्तुओं में निहित शक्ति के प्रभाव होते हैं और यथार्थ नकल नहीं होते। मनस् को ज्ञान की सामग्री संवेदन ही देते हैं। आत्मा उन पर क्रिया करती है, उनको व्यवस्थित करती है, मिलाती है, उनमें विभेद और उन्हें सम्बन्धित करती है और अपनी क्रियाओं पर भी विमर्श (reflection) करती है। हमारा सारा ज्ञान अनुभव की तथ्यता तक ही सीमित है। हमें अपने प्रत्ययों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। हम जानते हैं कि वाह्य जगत है किंतु यह ज्ञान हमारे प्रत्ययों के ज्ञान की भाँति स्वयंसिद्ध नहीं है।

विशप बार्कले भौतिकवाद और नास्तिकवाद का खण्डन करने के लिए लॉक के आधारभूत विचारों का उपयोग करता है। यदि हमारे ज्ञान का आधार संवेदन और विमर्श ही हैं, यदि हम केवल प्रत्ययों को ही जानते हैं तो हम अपने से बाहर एक वस्तु जगत या भौतिक जगत को कैसे जान सकते हैं? हम अपनी मानसिक अवस्थाओं तक ही सीमित हैं। हम अपने प्रत्ययों की तुलना मूर्त द्रव्यों से नहीं कर सकते; हम यह नहीं जान सकते कि वे क्या हैं। यदि पुद्गल हो और लॉक का मत ठीक हो तो हम उसे नहीं जान सकते; हम सन्देह में पड़ जाते हैं। यदि पुद्गल की भाँति स्वतंत्र द्रव्य और शुद्ध प्रसर (pure space) की सत्ता है तो ईश्वर की प्रतियोगिता में एक असीम, शाश्वत, कूटस्थ सत्य की भी सत्ता है जो ईश्वर की सत्ता के अभाव को भी ध्वनित करती है। अतएव पुद्गल (matter) में विश्वास करना नास्तिकता और भौतिकवाद की ओर ले जाता है। सन्देहवाद, नास्तिकता और अधार्मिकता का कारण पुद्गल या वस्तु जगत में विश्वास रखना है। पुद्गल की सत्ता है यदि हम इस विश्वास से छुटकारा पा जायँ तो हम इन अधार्मिक बातों से बच सकते हैं। पुद्गल को न मानकर

भी हम जगत की व्याख्या कर सकते हैं। हम तमाम तथ्यों की व्याख्या ईश्वर और अन्य आध्यात्मिक सत्ताओं से कर सकते हैं। इसलिए बार्कले के सामने महत्वपूर्ण प्रश्न यह है, क्या मनस् के बिना जगत की सत्ता है, क्या पुद्गल की स्वतंत्र सत्ता है?

जार्ज बार्कले (१६८५-१७३३) आयरलैंड में पैदा हुआ था। उसने ट्रिनिटी कालेज, डबलिन, में शिक्षा पाई, यात्रा की और १७३४ में क्लोयन का विशप बन गया। १७३२ में उसे मिशन स्थापित करने के लिए रोड प्रायद्वीप भेजा गया था।

ज्ञान के विषय

बार्कले इस धारणा को गलत ठहराता है कि हमारा अज्ञान हमारी शक्तियों के सीमित होने के कारण है। ईश्वर ने इतनी इच्छा सबको दी है कि यदि वे उसका उचित उपयोग करें तो उससे सन्तुष्ट हो सकें। अतएव ज्ञान की इच्छा अपनी शक्तियों के ठीक उपयोग से सन्तुष्ट की जा सकती है और सच्चे सिद्धान्तों से टिकाऊ निगमन किए जा सकते हैं। अतएव हमें मानवी ज्ञान के सिद्धान्तों के हर पक्ष की गम्भीर खोज और छानबीन करना चाहिए।

प्रत्यक्ष से अलग बाह्य वस्तुओं (मकानों, पहाड़ों, नदियों) की प्राकृतिक या वास्तविक सत्ता में विश्वास करने का मुख्य कारण यह मानना है कि मनस् अमूर्त प्रत्यय बना सकता है। किंतु ऐसा है नहीं। हम देखी गई वस्तुओं की कल्पना कर सकते हैं या उन्हें उपक्षिप्त कर सकते हैं और उनमें विभिन्न तरह से, भेद और मिश्रण कर सकते हैं। किंतु हम अपने विचारों में ऐसे त्रिकोण से जो "न तो विषम भुजाओं वाला हो, न सम भुजाओं वाला हो किंतु एक ही समय यह सब हो और न हो" संवादिता रखनेवाला कोई प्रत्यय नहीं पा सकते। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी त्रिकोण की भुजाओं के सम्बन्धों और गुणों पर ध्यान न देकर किसी आकृति को त्रिकोण समझ बैठे। वह इस हद तक तो अनुचय (abstract) कर सकता है किंतु इससे यह साबित नहीं होता कि वह त्रिकोण का कोई सामान्य असंबद्ध प्रत्यय बना सकता है। इसी भाँति गतिशील वस्तु से अलग हम गति का कोई स्पष्ट प्रत्यय नहीं बना सकते, जो न तेज हो और न धीमा। सामान्य प्रत्यय इस अर्थ में होते हैं: प्रत्यय जब एक ही भाँति के अन्य विशिष्ट प्रत्ययों को उपक्षिप्त (represent) करता है तो वह सामान्य प्रत्यय हो जाता है। हम एक ही भाँति के विशिष्ट प्रत्ययों के लिए एक नाम

या चिन्ह प्रयुक्त करते हैं और चूंकि हम एक नाम प्रयुक्त करते हैं अतएव ज्ञान को बढ़ाने और बताने के लिए ऐसे मनगढ़न्त अमूर्त प्रत्ययों की कोई आवश्यकता नहीं है।[1]

मनस् के बिना पुद्गल के वास्तविक जगत का प्रत्यय इसी तरह का अमूर्त प्रत्यय है। हम वस्तु को उसके प्रत्यय से अलग कर देते हैं, हम यह समझते हैं कि प्रत्यक्ष के बिना भी पुद्गल की सत्ता हो सकती है। यह असम्भव है। किसी वस्तु के वास्तविक संवेदन के बिना हम उसे देख या उसका अनुभव नहीं कर सकते और उस वस्तु के संवेदन या प्रत्यक्ष के बिना हम उसकी धारणा भी नहीं कर सकते।

लॉक के साथ बार्कले इसको मानता है कि मानवी ज्ञान के विषय या तो इन्द्रियों पर अंकित होते हैं या मनस् की क्रियाओं पर ध्यान देने से पाए जाते हैं या वे कल्पना और स्मृति द्वारा निर्मित प्रत्यय होते हैं। हम इन प्रत्ययों को मिलाते हैं, उनमें भेद करते हैं या उन्हें उपक्षिप्त करते हैं। प्रत्ययों से अलग उनको जानने या उनका प्रत्यक्ष करने और उन पर संकल्प, कल्पना, स्मृति आदि की विभिन्न क्रियाएँ करने वाली कोई चीज है। प्रत्यक्ष और क्रिया करने वाली यह चीज मनस्, स्पिरिट, आत्मा या "मैं" है। यह मेरे प्रत्ययों से सर्वथा अलग है, यह वह चीज है जिसमें प्रत्यय रहते हैं या जिसके द्वारा उनका प्रत्यक्ष होता है क्योंकि प्रत्यय की सत्ता उसके प्रत्यक्ष में ही है।

पदार्थ जगत

अब सब यह स्वीकार करेंगे कि हमारे विचार और कल्पना के चित्र मनस् के बिना सत्ता नहीं रखते; वे सब मनस् में हैं, उनकी सत्ता मनस् द्वारा प्रत्यक्ष करने या ज्ञेय होने में है। हमारे संवेदनों के साथ भी यही है; यहाँ भी सत्ता होने का अर्थ है प्रत्यक्ष का विषय हो सकना : दृष्टि ही सृष्टि है (esse is percipi)। जब मैं उस मेज की, जिस पर लिखता हूँ सत्ता मानता हूँ तो मेरा अभिप्राय यह है कि मैं उसे देख और छू सकता हूँ। कमरे से बाहर होने पर जब मैं उसकी सत्ता मानता हूँ तो मेरा अभिप्राय यह होता है कि यदि मैं कमरे में होता तो मेज को देख सकता या उसे कोई अन्य मनस् देखता है। मनस् के देखे बिना चीजों की सत्ता होती है यह समझ में नहीं आता। सत्ता होने का अर्थ ही प्रत्यक्ष का विषय होना या मनस् में होना है। अतएव मनस् के बिना पदार्थों की सत्ता नहीं होती; उनकी सत्ता उनके ज्ञेय या प्रत्यक्ष के विषय होने में है। जब तक वे

---

[1] बार्कले बाद को इस नामवादी धारणा में सुधार करता है।

मेरे मनस् द्वारा या अन्य स्पिरिट के मनस् द्वारा ज्ञेय नहीं है उनकी कोई सत्ता नहीं है या उनकी सत्ता किसी शाश्वत स्पिरिट के मनस् में हो सकती है। मनस् के बिना पुद्गल की सत्ता मानना विरोधाभास है।

यह सब लॉक द्वारा माने गए वस्तु के प्रत्यय से आवश्यक रूप से अनुसरित होता है। पदार्थ गति की शक्ति, रंग, वजन, स्वाद,गन्ध और शब्द रखने वाला एक ठोस, प्रपंचित और आकृतिमय द्रव्य है। उसके कुछ गुण उसमें निहित नहीं होते; रंग, शब्द, स्वाद,गन्ध प्रत्यक्ष करने वाले विषयी में पदार्थ द्वारा उत्पन्न प्रभाव है। वे पदार्थ में निहित गुण न होकर मुझमें निहित गुण हैं; हम उन्हें गौण गुण(secondary qualities)कहते है। प्रपंच, आकृति, ठोसपन, गति, ध्रुवता द्रव्य या पदार्थ में निहित गुण माने जाते हैं; वे प्रमुख गुण(primary qualities) हैं। किंतु ये प्रमुखगुण बार्कले के अनुसार गौण गुणों की भाँति ही हैं। मैं प्रपंच और ठोसपन के प्रत्यय को स्पर्श द्वारा जानता हूँ, वे भी मेरे मनस् के संवेदन हैं। मैं अपने प्रपंच के प्रत्यय को रंग और अन्य गौण गुणों के प्रत्यय से अलग नहीं कर सकता। मैं उस प्रपंचित पदार्थ को कभी नहीं देखता जिसमें उसी समय रंग आदि गुण न हों। प्रमुख गुणों और गौण गुणों में अविभाज्य सम्बन्ध है। मैं गौण गुणों का अनुचय करके किसी प्रपंचित ठोस द्रव्य को, जो इसके सिवा और कुछ न हो, नहीं समझ सकता। मेरे मनस् में ऐसे द्रव्य का कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है। किंतु यह कहा जाता है कि इन गुणों के बाहर इनका कोई आधार--द्रव्य--होना चाहिए। बार्कले के मत से यह भी अनुचय करना है, भौतिक द्रव्य आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। यदि मनस् के बिना ठोस, आकृतिवाले, गतिशील द्रव्य की सत्ता हो भी तो हम उसे कैसे जान सकते हैं? हमारे सारे प्रत्यय या संवेदन या देखी गई वस्तुएँ निष्क्रिय हैं; उनमें कुछ कर सकने की शक्ति नहीं है। अतएव प्रपंच, आकृति, गति जो सब प्रत्यय हैं संवेदनों के कारण नहीं हो सकते।

स्पिरिटों की दुनियाँ

किंतु मेरे मनस् में संवेदनों या प्रत्ययों का कोई कारण होना चाहिए। ऐसा कारण है और इस कारण को कोई सक्रिय द्रव्य होना चाहिए। क्योंकि यह कारण कोई भौतिक द्रव्य नहीं हो सकता अतएव इसको अमूर्त सक्रिय द्रव्य या स्पिरिट होना चाहिए। स्पिरिट एक है, अविभाज्य है, सक्रिय है--प्रत्ययों का प्रत्यक्ष करने से उसे समझ या बोध कहते हैं--प्रत्ययों को उत्पन्न या उन पर क्रिया करने से उसे संकल्प कहते हैं। चूंकि सारे प्रत्यय निष्क्रिय और जड़ होते हैं अतएव आतमा या स्पिरिट के प्रत्यय की धारणा नहीं बनाई जा सकती। अतएव

हम उस चीज का जो क्रिया करती है कोई प्रत्यय नहीं बना सकते। हम स्वयं स्पिरिट को नहीं देख सकते किंतु उसके द्वारा उत्पन्न कार्यों (effects) को ही देख सकते हैं। किंतु फिर भी हमें आत्मा या स्पिरिट का और मनस् की क्रियाओं, संकल्प करना, प्यार करना, घृणा करना आदि का, जिस अर्थ में भी हम उन्हें समझते हों, बोध होता है।

मैं कुछ प्रत्ययों को जब चाहे बना या बिगाड़ सकता हूँ, इस अर्थ में मेरा मनस् सक्रिय है, मुझे अपने विचारों पर अधिकार है। किंतु अपने संवेदनों पर मुझे यह अधिकार नहीं है। आँख खोलने पर मुझे कुछ चीजों के देखने या न देखने का अधिकार नहीं है और न ही इसका अधिकार है कि किन वस्तुओं को मेरी दृष्टि में आना चाहिए। मेरी इन्द्रियों पर अंकित प्रत्यय मेरे संकल्प के गुलाम नहीं हैं, इसलिए उनको उत्पन्न करनेवाली कोई अन्य स्पिरिट या संकल्प है। अनुभूति के प्रत्यय कल्पना के प्रत्ययों से अधिक सजीव और स्पष्ट होते हैं; उनमें स्थिरता, व्यवस्था और सामञ्जस्य होता है। वे मानवी संकल्प जनित प्रत्ययों की भाँति यों ही नहीं होते वरन् उनमें तारतम्यता होती है जो उनके निर्माता के ज्ञान और उदारता की सूचक है। जिस 'मनस्' पर हम सब निर्भर हैं, वह जिन स्थाई नियमों और व्यवस्था द्वारा हममें अनुभूति के प्रत्यय उत्पन्न करता है उन्हें प्रकृति के नियम कहते हैं। उनको हम अनुभव से सीखते हैं जो हमें यह बताता है कि सामान्य अवस्था में कौन से प्रत्यय किन अन्य प्रत्ययों से अवहित होंगे। दूसरे शब्दों में ईश्वर हमारे अन्दर प्रत्ययों को एक निश्चित क्रम से उत्पन्न करता है। उसने भोजन के साथ पुष्टकारिता, नींद के साथ ताजगी, आग के साथ गर्मी के प्रत्ययों को सम्बन्धित कर दिया है। यदि हमारे संवेदनों में कोई नियमित व्यवस्था न हो तो हम उन्हें समझ नहीं सकेंगे। संवेदनों के इसी नियमित प्रवाह के कारण हम अपने कर्मों को जीवनोपयोगी बना सकते हैं। हम अपने प्रत्ययों में इस सम्बन्ध को देखते हैं और भ्रमवश यह विश्वास करने लगते हैं कि प्रत्यय ही एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं; आग गर्मी उत्पन्न करती है, नींद ताजगी लाती है, वस्तुओं का संघर्ष आवाज पैदा करता है। इन्द्रियों पर ईश्वर द्वारा अंकित प्रत्ययों को वास्तविक चीजें कहा जाता है। कल्पना में उत्पन्न कम नियमित, स्पष्ट और स्थाई होने से वस्तुओं की, जिनकी वे उपक्षिप्त या नकल करते हैं, प्रतिमूर्त्ति कहलाते हैं। किंतु फिर भी हमारे संवेदन प्रत्यय हैं, वे मनस् में रहते हैं; वे हमारी कल्पना प्रतिमाओं से अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित और सजीव होते हैं। वे भी अपना प्रत्यक्ष करनेवाले विचारशील द्रव्य पर कम निर्भर होते हैं क्योंकि वे अन्य अधिक शक्तिवान् स्पिरिटों के संकल्प से उत्पन्न होते हैं।

आक्षेपों का उत्तर

इस मान्यता पर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों, मकानों, पहाड़ों, नदियों, पेड़ोंऔर पत्थरों का क्या होगा? क्या वे कल्पना जनित ही हैं? हमारे प्रत्ययवादी (idealist) का कहना है कि नहीं। उनकी सत्ता उपर्युक्त अर्थ में होती है। वे इस अर्थ में वास्तविक हैं कि उनके संवेदनों को ईश्वर हमारे अन्दर एक नियमित सामञ्जस्यपूर्ण क्रम से उत्पन्न करता है। इस अर्थ में भौतिक द्रव्य भी वास्तविक है यदि हम उससे प्रपंच, ठोसपन, वजन आदि अनुभव योग्य गुणों का सम्मिश्रण समझते हों। यदि हम द्रव्य को मनस् के बिना गुणों का आधार समझते हैं तो उसकी सत्ता कल्पना में भी नहीं हो सकती। किंतु क्या इससे यह अर्थ नही निकलता कि हम प्रत्ययों को खाते, पीते और उन्हीं को पहनते हैं? हम इन्द्रियों के प्रत्यक्ष विषयों को ही खाते पीते और पहनते हैं जिनकी सत्ता मनस् या प्रत्यक्ष के बिना नहीं हो सकती, इसलिए उन्हें प्रत्यय न कहकर वस्तुएँ कहना अधिक उपयुक्त है। किंतु हम वस्तुओं को अपने से बाहर दूर देखते हैं। इस समस्या पर बार्कले ने "एसे टुवर्डस् ए न्यू थिअरी आव् विजन" नामक पुस्तक लिखी है जिसमें उसने यह माना है कि दूरी या वाह्यता का आँख से या रेखाओं और कोणों से या उससे सम्बन्धित होनेवाली किसी और चीज से प्रत्यक्ष नहीं होता। दृष्टि के प्रत्यय या संवेदन हमें स्पर्श या गति के कुछ प्रत्यय सुझाते हैं। जब वस्तुएँ छोटी और धुंधली दीखती हैं तो अनुभव द्वारा सीखे हुए हम उसे दूर समझते हैं और यह समझते हैं कि उसका स्पष्ट और बड़ा रूप देख सकने के लिए हमें दूर तक चलना पड़ेगा।

किंतु मेरे आँख बन्द करने पर क्या सब चीजें अदृश्य नहीं हो जाती? चूंकि मैं उन्हें नहीं देख सकता इसलिए उनकी सत्ता भी नहीं होना चाहिए। बार्कले का कथन है कि जो दूसरा मत रखते हैं यह समस्या उनके सामने भी है। मेरे आँख कान बन्द कर लेने पर क्या रंग और शब्द अदृश्य हो जाते हैं? हम जिन वस्तुओं को देखते हैं उन सब में रंग, शब्द, आकार होता है। यदि वे अदृश्य हो जाते हैं तो दुनियाँ में बच क्या करता है? किंतु मैं यह भी तो कह सकता हूँ कि मेरे आँख बन्द करने पर वस्तुओं का प्रत्यक्ष दूसरे मनसों (minds) में होता रहता है।

और क्या यह प्रत्ययवाद (idealism) सम्पूर्ण अणुवादी (corpuscular) दर्शन का खण्डन नहीं करता? बार्कले का उत्तर है कि उस मान्यता से किसी घटना की ऐसी व्याख्या नहीं होती जो बिना उसके हो ही न सके। यह कोई नहीं जानता कि पुद्गल स्पिरिट पर कैसे क्रिया करता है

या उसमें प्रत्यय उत्पन्न करता है। प्राकृतिक दार्शनिक वस्तुओं की व्याख्या मूर्त (corporeal) द्रव्य से न करके आकृति, गति आदि अन्य गुणों से करते हैं जो वस्तुतः प्रत्ययों के अतिरिक्त और कुछ न होने से किसी चीज का कारण नहीं हो सकते।

इस नए मत के अनुसार यह कहना अनर्गल न होगा कि आग की जगह स्पिरिट गर्मी देती है? बार्कले का उत्तर है कि ऐसे मामलों में हमें विद्वानों की भाँति विचार करना और जनसाधारण की भाषा में बोलना पड़ता है। जो लोग कोपरनिकस के मत को मानते हैं वे अब तक कहते हैं कि सूरज निकलता है। यह भी कहा जाता है कि सारी दुनियाँ पुद्गल में विश्वास रखती है। तो क्या सारी दुनियाँ गलती पर है? किंतु क्या सारी दुनियाँ ऐसा विश्वास करती है? यह मानना विरोधाभास है। तथ्य यह है कि इस विषय में लोग बिल्कुल कोई राय नहीं रखते। और सब लोगों की सहमति प्रमाण नहीं है। हम उनके पक्षपात को क्या करें। लोगों ने माना था कि उनके संवेदनों की सत्ता मनस् से अलग और स्वतंत्र होती है क्योंकि वे स्वयं उसके विधाता नहीं थे। उन्होंने स्वप्न में नहीं सोचा कि इसमें विरोधाभास है। यह भी माना जाता था कि गुण मनस् के बिना रह सकते हैं और इसलिए एक अविचारमय द्रव्य की आवश्यकता थी। फिर यह माना जाता रहा कि गौण गुणों की सत्ता मनस् से अलग नहीं होती। चूंकि मनस् के बिना प्रमुख गुणों की सत्ता भी नहीं हो सकती अतएव द्रव्य अनावश्यक हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि शायद द्रव्य में ऐसे गुण हों जिन्हें हम नहीं देख सकते तो हम यह पूछते हैं कि अज्ञात गुणों के किसी अज्ञात आधार के बारे में, जिसके क्या और क्यों को हम नहीं जानते, बहस उठाने से फायदा ही क्या? यदि हममें इन गुणों को देखने की नई इन्द्रिय होती भी तो फिर पुरानी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जातीं। यदि पुद्गल (matter) को अज्ञेय, जो न द्रव्य है, न विशेषण, न स्पिरिट, न प्रत्यय; जड़ अविचारमय, अविभाज्य, कूटस्थ, अप्रपंचित, अस्थानीय समझा जाता है तो वह कुछ नहीं है। यदि शून्य से भेद करने के लिए पुद्गल को सत्ता, स्वत्व आदि दिया जाय तो मैं कहूँगा कि यह प्रत्यय मेरे लिए शब्दजाल है।

प्रत्ययों, स्पिरिट और सम्बन्धों का ज्ञान

स्पिरिट सक्रिय अविभाज्य द्रव्य है; प्रत्यय जड़, प्रवाहशील, परनिर्भर हैं जिनकी सता मनस् या स्पिरिटीय द्रव्यों पर होती है। हम अपनी सत्ता को आन्तरिक अनुभूति या विमर्श (reflection) द्वारा समझते हैं और अन्य स्पिरिटों को बुद्धि से। यह कहा जा सकता है कि हमें अपने मनस्, स्पिरिटों और

सक्रिय सत्ताओं की कुछ धारणा या ज्ञान है किंतु वस्तुतः हममें कोई प्रत्यय नहीं होते। इसी तरह हमें प्रत्ययों या वस्तुओं में सम्बन्ध होने की धारणा है। ये संबंध सम्बन्धित प्रत्ययों या वस्तुओं से अलग होते हैं क्योंकि हम सम्बन्धों को न जानते हुए भी सम्बन्धित वस्तुओं को देख सकते हैं। बार्कले के अनुसार प्रत्यय, स्पिरिट और सम्बन्ध ये सब मानवी ज्ञान और चिंतन के विषय हैं। प्रत्यय को हरेक ज्ञेय वस्तु या उसकी धारणा के अर्थ में लेना अनुचित है। इन्द्रियों पर अंकित प्रत्यय वास्तविक वस्तुएँ हैं और उनकी सत्ता है किंतु वे पूर्वरूप (archetypes) का प्रतिरूप नहीं होते। मनस् में उत्पन्न न होने से उन्हें वाह्य कहा जा सकता है क्योंकि वे उस स्पिरिट द्वारा अंकित होते हैं जो उनका प्रत्यक्ष करनेवाली स्पिरिट से भिन्न होती है। अनुभूति योग्य पदार्थों को भी इस अर्थ में 'मनस् से बाहर' माना जा सकता है। कि जब मैं अपनी आँख बन्द कर लेता हूँ पदार्थों की सत्ता तब भी रहती है किंतु उसे किसी और मनस् में होना चाहिए।

द्वैत, नास्तिकवाद और सन्देहवाद का खण्डन

बार्कले के अनुसार प्रत्ययवादी धारणा दर्शन के क्षेत्र से बहुत से अस्पष्ट और कठिन प्रश्नों का, जैसे क्या मूर्त द्रव्य विचार कर सकते हैं ? क्या पुद्गल असीमता तक विभाज्य है ? वह स्पिरिट पर क्रिया कैसे करता है ? बहिष्कार कर देती है। वह मानवी ज्ञान को प्रत्ययों और स्पिरिटों के ज्ञान तक सीमित कर देती है। वह मनस् के अन्दर अनुभूत्य विषय और मनस् के बाहर वास्तविक विषय के द्वैत को मिटा देती है। यह द्वैत ही सन्देहवाद की जड़ है क्योंकि हम यह कैसे जान सकते हैं कि देखी हुई वस्तुएँ अनदेखी वस्तुओं से समनुरूप होती हैं। यदि रंग, आकृति, गति, प्रपंच आदि मनस् से वाह्य वस्तुओं में उद्दिष्ट किए जाते ह तो हमें केवल उनका प्रातभास ही होता है, हम वस्तुओं के वास्तविक गुणों को नहीं देखते। इस तरह हम सन्देहवाद में पड़कर अपनी इन्द्रियों पर अविश्वास करते हैं। हमारे उपर्युक्त मत से सन्देहवाद का खण्डन होता है।

नास्तिकता का एक कारण पुद्गल की धारणा को मानना है; इसको न मानने से कोई अड़चन नहीं रहती। यदि आत्म सत्ताधारी जड़ द्रव्य ही सब वस्तुओं का मूल है तो हम वस्तुओं के निर्माण में स्वतन्त्रता, चेतनता आदि को कोई स्थान नहीं दे सकते। पुद्गल को मानने से एपीक्यूरस और हॉब्स के अनुयायी कहीं नहीं रहते। पुद्गल को न मानने से मूर्त्तिपूजा भी खत्म हो जाती है क्योंकि यदि इन्द्रियों के विषय मनस् के अनेक संवेदन हैं तो मनुष्य अपने प्रत्ययों की पूजा नहीं कर सकते। दूसरे यदि भौतिक द्रव्य को न मानकर वस्तु का वही अर्थ लिया जाय जो जनसाधारण लेते हैं : जिसका प्रत्यक्ष अनुभव

होता है, जो गुणों या प्रत्ययों का मिश्रण होती हैं तो पुनर्जीवन के प्रति की गई आपत्ति भी कुछ मूल्य नहीं रखती।

भ्रम का दूसरा मूल है अमूर्त प्रत्ययों की धारणा। काल, प्रसर (space), गति को विशिष्ट या मूर्त (concrete) भाव से हरेक आदमी जानता है; किंतु तत्व समीक्षकों के हाथों में पड़कर वे इतने अमूर्त हो जाते हैं कि जनसाधारण उन्हें नहीं समझ सकते। मनस में प्रत्ययों के आनुपूर्व्य के अतिरिक्त काल और कुछ नहीं है। अतएव किसी ससीम स्पिरिट की देर (duration) का अन्दाज उसी स्पिरिट या मनस में अनुपूर्वित होनेवाले प्रत्ययों या क्रियाओं से किया जा सकता है। इससे नैसर्गिक परिणाम यह निकलता है कि आत्मा सदा विचार करती है। जहाँ प्रपंच होता है वहाँ रंग भी होता है और वह भी मनस् में, उनके पूर्वरूपों (archetypes) की सत्ता केवल किसी अन्य मनस् में ही हो सकती है और उन्हीं संवेदनों का मिश्रण और एक साथ मूर्त हो जाना ही मनस् का विषय है; बिना प्रत्यक्ष के उनमें से किसी की भी सत्ता नहीं हो सकती। हम वस्तुओं से पृथक शुद्ध प्रसर (pure space) का प्रत्यय नहीं बना सकते। शुद्ध प्रसर का तात्पर्य यह है कि मैं अपने शरीर के अवयवों को कम से कम रुकावट के साथ सब ओर घुमा फिरा सकता हूँ।

सन्देहवादियों की विजय प्राकृतिक दर्शन में होती है। उनका कहना है कि हम वस्तुओं के वास्तविक स्वत्व, उनके आन्तरिक गुणों और रूप को नहीं जानते। पानी की हर बूंद में, बालू के हर कण में कुछ ऐसी बात है जिसे मानवी बुद्धि नहीं समझ सकती। इस शिकायत का कोई आधार नहीं है। वस्तुओं में ऐसा कोई आन्तरिक स्वत्व नहीं है जिस पर उनके ज्ञेय गुण आधारित होते हैं या निस्सृत होते हैं। आकृति, गति, वजन और इसी तरह के जड़ गुणों से गुणों या प्रतिभासों, रंग, शब्द आदि की व्याख्या करना व्यर्थ है। स्पिरिट के अतिरिक्त और कोई निमित्त कारण या माध्यम नहीं है; गति और अन्य प्रत्यय पूर्णतः जड़ हैं।

आकर्षण सिद्धान्त की बड़ी चर्चा की जाती है। इस शब्द का कार्य (effect) के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है। इस शब्द से हमें इसको उत्पन्न करनेवाले कारण या क्रिया का पता नहीं चलता। बहुत से लोग सार्वभौम गुरुत्वाकर्षण की बात कहते हैं। उनके अनुसार वस्तु में निहित गुण है एक दूसरी वस्तु को परस्पर आर्कषित करना और उससे आर्कषित होना। इसमें कोई नई बात नहीं है। यह संचालन करनेवाली स्पिरिट के संकल्प पर निर्भर करता है जो विभिन्न नियमों के अनुसार वस्तुओं को एक दूसरी की ओर उन्मुख करती है। अतएव मनस् या स्पिरिट के अलावा और किसी प्राकृतिक निमित्त कारण की खोज व्यर्थ है। पूरी

सृष्टि एक सत् (good) और विचारमय आत्मा का काम है, अतएव दार्शनिकों को वस्तुओं के लक्ष्यात्मक कारणों पर ध्यान देना चाहिए। इस दिशा में पहला काम उन लक्ष्यों की ओर संकेत करना है जिनके लिए सारी वस्तुएँ संयोजित हैं और जिसके लिए उनका निर्माण किया गया है। इस दिशा में अवलोकन और परीक्षण न करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि परीक्षण आदि से मनुष्य जाति का हित होता है और हम उनसे सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं। वस्तुओं में ऐसा किसी स्थाई प्रवृत्ति या सम्बन्धों के कारण न होकर जगत संचालन में मनुष्यों के प्रति ईश्वर की उदारता और सात्विक भाव से है। अपने दृष्टिक्षेत्र में संलग्नता से अवलोकन करके हम प्रकृति के सामान्य नियमों का निगमन कर सकते हैं और उनसे अन्य वस्तुओं का निगमन कर सकते हैं। "मैं यह नहीं कहता कि हम प्रदर्शित कर सकते हैं क्योंकि सारा निगमन इस मान्यता पर निर्भर करता है, कि ईश्वर सदा समान रूप से क्रिया करता है जिसे हम सिद्धान्त समझते हैं; स्पष्ट है कि हम इसको नहीं जान सकते।" बार्कले के अनुसार नैतिकता के नियम, जिनसे मनुष्य जाति का हित होता है, प्रदर्शित किए किए जा सकते हैं और उनमें ज्यामिति के प्रस्तावों के समान ही अटल और शाश्वत सत्य होता है।

—:o:—

१०

डेविड ह्यूम

समस्या

लॉक की शिक्षा थी कि हमें अपने प्रत्ययों का निश्चित ज्ञान, ईश्वर और नैतिकता का प्रदर्शनात्मक ज्ञान और पदार्थों के बाह्य जगत का व्यावहारिक रूप से निश्चित ज्ञान होता है। बार्कले ने भौतिक जगत की सत्ता को नहीं माना था और हमारे ज्ञान को प्रत्ययों और सम्बन्धों तक ही सीमित कर दिया था। डेविड ह्यूम ज्ञान के मूल की अनुभववादी धारणा और बार्कले के मत की कि दृष्टि ही सृष्टि (esse is percipi) है को मानता है और इन मान्यताओं से आवश्यक परिणाम निकालता है। यदि हम अपनी अनुमुद्राओं (impressions) को ही जानते हैं तो हमें भौतिक या अभौतिक द्रव्य की सत्ता मानने का कोई अधिकार नहीं है। हमें ऐसी कोई अनुमुद्राएँ नहीं मिलतीं जो किसी तरह के द्रव्य को न्यायोचित बताती हों। अनुभव में हमें ऐसी कोई चीज नहीं मिलती जो कारण या आवश्यक सम्बन्ध की मान्यता को न्याययुक्त ठहरावे। कार्य और कारण का अर्थ प्रत्ययों के आनुपूर्व्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। तत्व-समीक्षा (metaphysics), ईश्वरवाद और प्राकृतिक विज्ञान सार्वभौम और आवश्यक ज्ञान नहीं दे सकते। ईश्वर, जगत और आत्मा सम्बन्धी विज्ञान बौद्धिक विज्ञान, जिसे लॉक ने वस्तुओं का विज्ञान कहा था, की भाँति ही संभव नहीं हैं। हम उसी को जान सकते हैं जिसका हमें अनुभव होता है और अपने सीमित क्षेत्र में हम केवल संभावना तक ही पहुँच सकते हैं। ह्यूम इस बात में कि ज्ञान को स्वयंसिद्ध होना चाहिए देकार्त, हॉब्स और लॉक से सहमत है किंतु वह ऐसे ज्ञान को गणित के सिवा कहीं नहीं पाता। गणित में उसी की मान्यताओं का विश्लेषण मात्र ही होता है।

ह्यूम का दृष्टिकोण अनुभववादी है : हमारे ज्ञान का मूल अनुभव में है; यह भाववाद (positivism) है : हमारा ज्ञान लोक तक ही सीमित है,; यह अज्ञेयवाद (agnosticism) है : हम द्रव्यों, कारणों, आत्मा, वाह्य जगत और

विश्व के बारे में कुछ नहीं जानते; यह मानववाद (Humanism) है : मानवी मनस् की दुनियाँ ही हमारे अध्ययन का वास्तविक विषय है।

डेविड ह्यूम १७११ ई० में एडिनबरा में पैदा हुआ था। उसने कानून पढ़ा, जेनरल सेंट क्लेयर और बाद में लार्ड हार्टफोर्ड का सेक्रेटरी रहा (१७६३-१७६६), एडिनबरा की ला फैकल्टी का पुस्तकाध्यक्ष रहा (१७५२-५७) और स्टेट का अन्डर सेक्रेटरी रहा (१७६७-६९)। पहली बार फ्रांस निवास (१७३४-३७) में उसने तीन पुस्तकों में अपनी मुख्य पुस्तक 'ट्रीटिस अपान ह्यूमन नेचर' लिखी, किंतु पुस्तक ने कोई ख्याति नहीं पाई। बाद में उसने पुस्तक को लोकप्रिय रूप से लिखा और तीनों पुस्तकों को अलग अलग छपाया (१७४८, ५१, ५७)। किंतु उसकी ख्याति उसके जीवन काल में दार्शनिक की भाँति न होकर इतिहासकार के रूप में हुई। अँग्रेजी राजदूत का सदस्य बनकर जब वह दूसरी बार पेरिस गया तो उसने रूसो, दिदरो, होलबॉक, तर्गो, द'एलेमबेयर से परिचय किया और रूसो को इँग्लैंड आने को प्रेरित किया। उसकी मृत्यु सन् १७७६ में हुई।

मानवी प्रकृति का विज्ञान

ह्यूम के कथनानुसार सब विज्ञानों का सम्बन्ध मानवी प्रकृति से होता है। तर्कशास्त्र का उद्देश्य हमारी तर्क शक्ति के सिद्धान्तों और क्रियाओं और प्रत्ययों की प्रकृति की व्याख्या करना होता है। नैतिकता और आलोचना (criticism) हमारी रुचि और भावों को बताते हैं। राजनीति में मनुष्यों की पारस्परिक एकता और उनके सामाजिक बन्धन का अध्ययन होता है। गणित, प्राकृतिक दर्शन और धर्म का निर्णय भी मानवी शक्तियों से ही होता है। अतएव हमें अपनी समझ को नियमित करने वाले, भावों को उद्दीप्त करनेवाले और किसी विशेष वस्तु क्रिया या व्यापार की प्रशंसा या निन्दा करनेवाले सिद्धान्तों की खोज करने के लिए मानवी प्रकृति का ही अध्ययन करना चाहिए। हमें पूछना चाहिए कि सत्य और झूठ, पाप और पुण्य, सौंदर्य और कुरूपता में भेद करने का मूल क्या है। मानवी विज्ञान, जिसे ह्यूम आचार दर्शन कहता है, ही अन्य विज्ञानों के लिए एक ठोस नींव है और इस मानवी विज्ञान को अनुभव और अवलोकन पर आधारित होना चाहिए। दर्शन में 'तर्क की प्रयोगात्मक विधि' को इस्तेमाल करना चाहिए। इस काम को ह्यूम ने अपनी पुस्तक 'ट्रिटिस अपान ह्यूमन नेचर' में करने की चेष्टा की है जिसका पहला अध्याय समझ (understanding) दूसरा भावों (passions) और तीसरा आचारिकता (morals) की व्याख्या करता है।

सबसे महत्वपूर्ण काम मानवी समझ की प्रकृति की खोज करना है, उसकी शक्तियों का विश्लेषण करना है, यह दिखाना है कि वह परम्परागत दर्शन की भाँति अस्पष्ट विषयों के उपयुक्त नहीं है। दूसरे शब्दों में हमें सच्ची तत्वसमीक्षा करना चाहिए, हमें समझ (understanding) का ऐसा विज्ञान बनाना चाहिये जिससे बुद्धि के लिए दुर्गम क्षेत्रों में प्रवेश करने का प्रयत्न करनेवाला झूठा और मिश्रित विज्ञान नष्ट हो सके। यदि हम मानसिक भूगोल और मनस् की विभिन्न शक्तियों और अवयवों का पता लगा लें तो हमें इसमें उतना ही सन्तोष होना चाहिए जितना कि ग्रहों की व्यवस्था का अध्ययन करने से होता है। किन्तु हम मनस् के उन छिपे उद्गमों और सिद्धान्तों को खोज निकालने की आशा क्यों नहीं रखते जिनसे मनस् अपनी क्रियाओं की ओर प्रेरित होता है; हो सकता है कि कोई ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हो जो शायद मनस् के सार्वभौम और सामान्य सिद्धान्तों की खोज कर सके।

ज्ञान का मूल

ह्यूम के सामने प्रमुख समस्या है ज्ञान के मूल और प्रकृति की। ज्ञान का मूल क्या है; उसकी निश्चितता, क्षेत्र और सीमाएँ क्या हैं? द्रव्य और कारण की भाँति ज्ञान के रूपों की महत्ता या मूल्य क्या है? इन सब प्रश्नों का उत्तर ह्यूम द्वारा दिए गए ज्ञान के मूल के उत्तर पर आधारित है। हमारे विचार करने की सारी सामग्री बहिर्मुखी और अंतर्मुखी अनुमुद्राओं (impressions) से मिलती है। अनुमुद्राएँ हमारे देखने, सुनने, अनुभव करने, प्रेम, घृणा, इच्छा या संकल्प करने के अत्यधिक सजीव प्रत्यक्ष हैं। वे हमारी आत्मा में पहली बार उत्पन्न होने वाले संवेदन, भाव और भावनाएँ हैं। हमारे सारे विचार या प्रत्यय इन अनुमुद्राओं की नकल है : वे कम सजीव प्रत्यक्ष या क्षीण अनुमुद्राएँ हैं जिनका बोध हमें तभी होता है जब हम किसी संवेदन या गति पर विमर्श करते हैं। बहिर्मुखी संवेदन या अनुमुद्राएँ आत्मा में अज्ञात कारणों से उत्पन्न होती हैं किंतु अन्तर्मुखी संवेदन अधिकतर हमारे प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं, जैसे जब कोई अनुमुद्रा इन्द्रिय पर आघात करती है तब हम गर्मी, ठंडक, सुख या दुख का प्रत्यक्ष करते हैं। अनुमुद्राओं की नकल रह जाती है जिसे प्रत्यय कहते हैं। सुख या दुख का यह अवशेष प्रत्यय नई अनुमुद्राएँ उत्पन्न करता है, जैसे इच्छा और द्वेष, आशा और भय जो विमर्श (reflection) की अनुमुद्राएँ हैं। स्मृति और कल्पना में इनकी फिर नकल होती है। इन अनुमुद्राओं से ज्ञान हमें अनुभव और इन्द्रियों से मिलनेवाली सामग्री को मिलाने, स्थान बदलने, बहुकरण या कम करने से मिलता है। अनुमुद्राओं का मिश्रण मनस और

संकल्प द्वारा होता है। विश्लेषण करने से पता चलता है कि हम जिस प्रत्यय की परीक्षा करते हैं वह इन्हीं अनुमुद्राओं की नकल होता है। जहाँ अनुमुद्राएँ नहीं हैं वहाँ प्रत्यय भी नहीं हो सकते; अन्धे को रंग और बहरे को शब्द की धारणा नहीं हो सकती। इसलिए हम जब भी दार्शनिक शब्दों के अर्थ की परीक्षा करें तो हमें सदा यह पूछना चाहिए कि कथित प्रत्यय किस अनुमुद्रा से प्राप्त किया गया है।

हमारे विचार या प्रत्यय बिल्कुल असम्बद्धित या संयोगवश ही सम्बद्धित नहीं होते। उनमें एक नियमितता होती है। उनमें पारस्परिक एकता होती है, एक प्रत्यय के बाद दूसरा आता है। चित्र देखने पर हमें मूल दृश्य याद आ जाता है (सादृश्य), मकान का एक कमरा पास वाले कमरे का संकेत देता है (सामीप्य), घाव के साथ दुख का ख्याल आता है (कारण और कार्य)। इस सबको प्रत्ययों का संवास (association) कहते हैं। सादृश्य, प्रसर और काल में समीपता और कारण और कार्य संवास के सिद्धान्त या नियम हैं। दूसरे शब्दों में हमारे विचार सदृश वस्तुओं, प्रसर काल में समीप वस्तुओं और कारण और कार्य से सम्बन्धित वस्तुओं का विचार लाते हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्ययों के संवास या मिश्रण से हमारे सारे जटिल प्रत्यय (complex ideas) बनते हैं।

हमारा सारा इतिवृत्तात्मक चिंतन कार्य-कारण सम्बन्ध पर निर्भर है, हम सदा वर्तमान और अन्य तथ्य में सम्बन्ध ढूंढ़ते हैं। रेगिस्तान में घड़ी पाकर मनुष्य उसके होने का कारण अर्थात् वहाँ कभी किसी मनुष्य की उपस्थिति का अनुमान करता है। कारण-कार्य की खोज पर ही हमारा चिंतन और व्यवहार निर्भर करता है। अतएव इस सम्बन्ध का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। हम कार्य-कारण के ज्ञान को कैसे पाते हैं और इस ज्ञान का प्रमाण क्या है, इसके प्रमाण की प्रकृति क्या है?

प्रागनुभव चिंतन से हम इस सम्बन्ध के ज्ञान तक नहीं पहुँचते। आग की गर्मी और प्रकाश के अनुभव के पहले कोई आदमी यह अनुमान नहीं कर सकता कि गर्मी उसको जलाकर भस्म कर देगी। मनस् किसी माने हुए कारण से कार्य का निगमन नहीं कर सकता। प्रागनुभव चिंतन से हम बारूद के विस्फोट और चुम्बक की आकर्षण शक्ति के बारे में नहीं जान सकते। कार्य कारण से सर्वथा भिन्न होता है और उसको कारण में नहीं खोजा जा सकता। हम इसका प्रदर्शन नहीं कर सकते कि अमुक कारण का अमुक कार्य होना चाहिए या सदा एक ही कार्य होना चाहिए। गणित की प्रस्तावनाओं की भाँति हम इसकी सिद्धि नहीं कर सकते कि आग गर्मी देती है और रोटी भूख मिटाती

है। रोटी और भूख मिटने में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है जिससे एक की धारणा दूसरे में आवश्यक रूप से निहित हो। यदि ऐसा होता तो हम अनुभव के बिना ही इन गुणों के पहली बार प्रकट होने से कार्यों (effects) का अनुमान कर सकते, जिस तरह हम यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि त्रिकोण के तीनों कोणों का जोड़ १८०° के बराबर होता है। आग गर्मी नहीं देगी, बारूद विस्फोटित नहीं होगी और रोटी से भूख नहीं मिटेगी ऐसा मानने में कोई तार्किक बाध नहीं है।

हमारा कार्य और कारण के सम्बन्ध का ज्ञान अनुभव और अवलोकन पर आश्रित है। हम देखते हैं कि एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु आती है, लपटों से आँच निकलती है, इत्यादि। अनेक उदाहरणों में यह देखकर कि किसी दो तरह की वस्तुएँ सदा एक साथ होती हैं हम यह मान लेते हैं कि उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है और उनमें कोई एक दूसरे का कारण है। हम एक की उपस्थिति पर दूसरे के प्रकट होने की आशा रखते हैं। आदत या रीति के अनुसार मनस् यह विश्वास कर लेता है कि वे दोनों वस्तुएँ परस्पर सम्बन्धित हैं और वे सदा एक साथ होंगी। दो वस्तुओं, लपट और आँच, ठोसपन और वजन, को सदा एक साथ देखकर हम आदतन एक के होने पर दूसरी के होने की आशा करने लगते हैं। वस्तुओं के सदा एक साथ होने का अनुभव हमारे अन्दर यह विश्वास उत्पन्न करता है कि उनमें सम्बन्ध है। यह विश्वास आत्मा की क्रिया है; यह इतना स्वाभाविक है कि प्रेम भावना की भाँति इससे छुटकारा नहीं मिल सकता। विश्वास की इसके अतिरिक्त और कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती कि हम सभी उसका अर्थ जानते हैं और सबको उसका बोध होता है। ('ट्रिटिस' में ह्यूम इस विश्वास के मनोविज्ञान के बारे में अनिश्चित है। वह इसका तादात्म्य कल्पना से करता है किन्तु यह उसको अस्पष्ट और असन्तोषजनक मालूम होता है)। प्रकृति ने हमारे मनस् की उस क्रिया जिससे हम सदृश कारणों से सदृश कार्यों का अनुमान करते हैं और चिंतन के हेत्वाभासपूर्ण निगमन पर विश्वास न करके उसे हमारी एक स्वाभाविक यंत्रवत प्रवृत्ति बना दिया है।

अतएव कारण की यह परिभाषा दी जा सकती है कि कारण वह वस्तु है जो दूसरी वस्तु से अनुसरित होता है और जिसकी उपस्थिति सदा उस दूसरी वस्तु का विचार उत्पन्न करती है। कुछ तत्वसमीक्षक इस परिभाषा से सन्तुष्ट नहीं होते, उन्हें इसमें कुछ कमी मालूम होती है। उनके लिए कारण वह है जो दूसरी वस्तु को उत्पन्न करता है; कारण में कुछ ऐसी ऊर्जस्विता (energy) या रहस्यमय शक्ति होती है जिससे वह कार्य की उत्पत्ति

करने में समर्थ होता है। कार्य को कारण में बाँधनेवाला एक सूत्र, एक अनिवार्य सम्बन्ध होता है और यदि हम उस शक्ति को जान लें तो हम बिना अनुभव के भी कार्य का पूर्वदर्शन कर सकते हैं और केवल तर्क और चिन्तन के आधार पर उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह सकते हैं। यदि ऐसा सच हो तो हम कारण से कार्य का अनुमान कर सकते हैं; तब कारण के ज्ञान में कार्य का ज्ञान आवश्यक रूप से निहित होगा : हम बिना अनुभव के यह तुरन्त जान सकेंगे कि कोई वस्तु किस तरह क्रिया करेगी।

किंतु शक्ति (power), ऊर्जस्विता (energy), अनिवार्य सम्बन्ध आदि शब्दों का अर्थ क्या है और हमें उनका प्रयोग करने का अधिकार क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें शक्ति या अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय का विश्लेषण करना चाहिए। हम ऐसी किसी चीज को नहीं सोच सकते जिसकी अनुभूति हमने पहले से ही वाह्य या आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा न की हो। वह कौन सी अनुमुद्रा है जिस पर शक्ति का प्रत्यय आश्रित है : हम उसे कैसे पाते हैं? जब हम वाह्य वस्तुओं को देखते हैं और कारणों की क्रिया को समझते हैं तो हम किसी शक्ति या अनिवार्य सम्बन्ध या कारण को कार्य से बाँधनवाले और एक को दूसरे का स्थाई परिणाम बनानेवाले किसी गुण को नहीं पाते। हम केवल यही देखते हैं कि एक वस्तु दूसरी से अनुसरित होती है। बिलियर्ड की एक गेंद की गति से दूसरी गेंद में गति आती है। वाह्य इन्द्रियों को सिर्फ यही दिखाई देता है। किसी वस्तु को पहले पहल देखकर हम यह अनुमान कभी नहीं लगा सकते कि उसका परिणाम क्या होगा। विश्व को संचालित करनेवाली शक्ति हमसे सर्वथा छिपी है। हम जानते हैं कि लपट में आँच होती है किंतु उनमें क्या सम्बन्ध है इसे हम नहीं जानते। मनस् की क्रियाओं पर विमर्श करके भी हम शक्ति का प्रत्यय नहीं पाते। वह किसी आन्तरिक अनुभव या अनुमुद्रा की नकल से भी नहीं मिलता। किंतु यह कहा जा सकता है कि क्या हमें हर क्षण आन्तरिक शक्ति का बोध नहीं होता, क्या हम अपने शरीर के अवयवों और मनस् की कार्य-शक्तियों को संचालित कर सकने के संकल्प में उस शक्ति की अनुभूति नहीं करते? इच्छित कार्य से हम अपने शरीर को गतिमय कर सकते हैं और अपनी कल्पना में कोई नया प्रत्यय पैदा कर सकते हैं। संकल्प के इस प्रभाव को हम चेतनता द्वारा जानते हैं। अतएव हमें शक्ति या ऊर्जस्विता का प्रत्यय होता है और हमें विश्वास है कि वह शक्ति हममें और सब समझदार सत्ताओं में है।

ह्यूम कहता है कि हमें इस दृष्टिकोण की परीक्षा करनी चाहिए। यह सच है कि हम अपनी इच्छा से शरीर के भागों को प्रभावित करते हैं। किंतु ऐसा

किन साधनों से होता है इसका बोध हमें नहीं है। हमारा संकल्प जिस ऊर्जस्विता से यह करता है हमें उसका बोध कभी भी नहीं हो सकता। प्राकृतिक घटनाओं की भाँति वह शक्ति भी हमसे छिपी हुई है। शरीर की गति संकल्प करने पर होती है, यह हमें अनुभव से पता चलता है किंतु यह कैसे होता है यह एक रहस्य है। अनुभव से हमें यह पता नहीं चलता कि संकल्प और उसकी क्रिया को एक सूत्र में बाँधनेवाला रहस्य क्या है जिससे वे दोनों एक दूसरे से अपृथक हो जाते हैं। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध एक रहस्य है, यहाँ हम कारण से उसके कार्य का सम्बन्ध नहीं जानते; हम कारण की किसी स्पष्ट शक्ति द्वारा शरीर पर मनस् का प्रभाव नहीं देख सकते जो कारण को उसके कार्य से सम्बन्धित करता है और एक को दूसरे का अटल परिणाम बना देता है। हमारा संकल्प हमारे चिंतन का, जिसकी शक्ति द्वारा आत्मा प्रत्ययों को उत्पन्न करती है, नियंत्रण कैसे करता है यह जान सकना भी असम्भव है। हम ऐसी किसी शक्ति को नहीं खोज पाते; हम यही जानते हैं कि संकल्प किसी प्रत्यय को आदेश देता है और क्रिया होती है।

इस सबका तात्पर्य यह है कि हम किसी शक्ति को कभी नहीं खोज सकते; हम केवल घटनाओं को एक दूसरे के बाद होते देखते हैं। हम संकल्प और गति को बाँधनेवाली चीज को नहीं देख सकते जिससे मनस् यह परिणाम उत्पन्न करता है। ऐसा ही प्राकृतिक घटनाओं के साथ भी है। एक के बाद दूसरी घटना होती है, हम उनके सम्बन्ध को नहीं देख सकते। वे मिली हुई सी लगती हैं, सम्बन्धित नहीं। हम ऐसे किसी सम्बन्ध, शक्ति या बन्धन का अनुभव नहीं करते; हमें उसकी कोई अनुमुद्रा नहीं होती, अतएव हमें उसका प्रत्यय भी नहीं हो सकता। यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है तथापि वे निरर्थक जान पड़ते हैं। किंतु उचित रूप से प्रयुक्त होने पर उनका अर्थ होता है: जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु दूसरी वस्तु से सम्बन्धित है तो हमारा मतलब यह होता है कि उन वस्तुओं ने हमारे विचारों में सम्बन्ध पा लिया है। जैसा पहले कहा है मनस् आदतवश एक घटना को देखकर उसके बाद की घटना की आशा और उसकी सत्ता में विश्वास करने लगता है। मनस् द्वारा अनुभूत इस सम्बन्ध से वस्तु को देखकर कल्पना में उसके बाद की वस्तु का स्वाभाविक संक्रमण ही वह अनुमुद्रा (impression) है जिससे हम शक्ति या अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय बनाते हैं।

अतएव ह्यूम के अनुसार वस्तुओं में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता वरन् हमारे मनस् में संवास (association) द्वारा प्रत्ययों का सम्बन्ध होता है। संवास आदत और बार बार देखने का फल है। प्रत्यय साथ साथ इतनी

बार आ चुके होते हैं कि एक अपने प्रकट होने पर दूसरे का संकेत करता है। यह तार्किक अनिवार्यता न होकर अनुभव पर निर्भर मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता ही है। यह व्यापार क्या जानवरों, क्या बच्चों, क्या मनुष्यों और क्या दार्शनिकों सभी में है।

दार्शनिकों द्वारा बनाई गई दूसरी धारणा द्रव्य की है। हम रंग, शब्द, स्वाद, आकृति और वस्तुओं के अन्य गुणों को देखते हैं जिनकी सत्ता अपने आप में न हो सकने से उनकी सत्ता के आधार का कोई विषय होना चाहिए। इससे हम कल्पना में किसी ऐसी अदृश्य और अज्ञेय वस्तु की धारणा कर लेते हैं जो सारी विभिन्नताओं में समान ही रहे। यह अज्ञेय वस्तु द्रव्य है; इसके गुणों को संयोग (accidents) कहते हैं। दार्शनिक आधिदैविक गुणों और द्रव्यात्मक रूपों (substantial forms) को भी मानते हैं। किंतु यह सब कल्पित चीजें हैं। हमें प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और किसी चीज का पूर्ण प्रत्यय नहीं होता। द्रव्य प्रत्यक्ष से बिल्कुल भिन्न है। अतएव हमें द्रव्य का प्रत्यय नहीं होता। प्रत्येक गुण हरेक दूसरी चीज से पृथक होने से हरेक गुण से ही अलग नहीं वरन् उस अदृश्य द्रव्य से भी अपनी अलग सत्ता रख सकता है।

हमारे सारे विचार या प्रत्यय अनुमुद्राओं (impressions) की नकल हैं; सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। अब हमें यह पूछना चाहिए कि ऐसे ज्ञान का प्रमाण क्या है, उसके साक्ष्य की प्रकृति क्या है? मानवी चिंतन के सारे विषयों के दो भाग किए जा सकते हैं : प्रत्ययों के सम्बन्ध और इतिवृत्तात्मक तथ्य (matters of fact)। ज्यामिति, बीजगणित (algebra), गणित और वह सब बातें जो या तो अन्तर्साक्ष्य (intuition) से या प्रदर्शन से निश्चित हैं पहले भाग के विज्ञानों में आती हैं। त्रिकोण विषयक प्रस्तावनाएँ उनकी आकृतियों के सम्बन्ध को अभिव्यक्ति करती हैं। पन्द्रह तीस का आधा है यह संख्याओं के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है। ऐसी प्रस्तावनाओं को हम केवल चिंतन द्वारा ही खोज सकते हैं चाहे विश्व में उनकी सत्ता हो या न हो। यदि प्रकृति में वृत्त (circle) या त्रिकोण न होता तो भी यूकलिड द्वारा प्रदर्शित सत्य सदा निश्चित और स्वयंसिद्ध रहते।

इतिवृत्तात्मक तथ्यों के बारे में इन्द्रिय या स्मृति पर अनाधारित सब प्रमाण कारण-कार्य सम्बन्ध से प्राप्त किए जाते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं कारण-कार्य का ज्ञान अनुभव से मिलता है। वस्तुओं को एक साथ देखने से उनमें किसी सम्बन्ध को समझ बैठना आदत है और आदत स्वभाव होती है और स्वभाव भ्रामक हो सकता है। इतिवृत्तात्मक तथ्यों का प्रमाण गणित के प्रमाण की

भाँति नहीं है। तथ्य का कोई विपरीत तथ्य होना असम्भव है क्योंकि उसमें कोई बाध (contradiction) निहित नहीं होता। सूरज कल नहीं निकलेगा इस प्रस्तावना में उतना ही बाध है जितना कि सूरज निकलेगा में है। यहाँ हम निश्चित स्वयंसिद्ध ज्ञान की बात न कर संभावना की बात कर रहे हैं।

हमें द्रव्यों का कोई प्रत्यय नहीं है और ज्ञान में उनका कोई स्थान नहीं है। किंतु यह पूछा जा सकता है कि जब कारण के बारे में कल्पना पर विश्वास किया जाता है तो द्रव्य के बारे में क्यों न किया जाय? ह्यूम का उत्तर है कि हम उन सिद्धान्तों में जो स्थाई और सार्वभौम हैं, जैसे कारण से कार्य की की ओर संक्रमण करने की आदत, और उन सिद्धान्तों में जो परिवर्तनशील, क्षीण और अनियमित हैं, जैसे द्रव्य, द्रव्यात्मक रूप, संयोग और आधिदैविक गुणों को मानना, भेद करना चाहिए। हमारी सारी क्रियाएँ और विचार पहली तरह के सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं; उनको हटाने से मानवी प्रकृति ही नष्ट हो जायगी। बाद के सिद्धान्त न तो मनुष्य के लिए आवश्यक हैं और न ही दैनिक जीवन में उनकी कोई आवश्यकता है।

हमें निरपेक्षित, स्वयंसिद्ध या निश्चित ज्ञान नहीं होता इसलिए इतिवृत्तात्मक तथ्यों के बारे में हमारा ज्ञान निरपेक्षित निश्चितता को कभी नहीं पहुँचता। हम अपने निष्कर्षों को अनुभव पर आधारित करते हैं। हम विश्वास करते हैं कि भविष्य अतीत की भाँति ही होगा किंतु हमें चीजों के न बदल सकने का कोई आश्वासन नहीं है। यदि हम इस विश्वास के अनुसार कि प्रकृति में नियमितता है व्यवहार न करें तो जीवन असम्भव हो जाय। हमारी सन्देहवादिता से कोई व्यावहारिक हित नहीं होता। सारे सन्देहात्मक विमर्शों के लिए व्यवहार अनमोल दवा है।

वाह्य जगत का ज्ञान

इन्द्रियों पर भी पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता, हमें उनके साक्ष्य को तर्क द्वारा शोधना चाहिए। हम प्राकृतिक स्वभाव से अपनी इन्द्रियों पर विश्वास करते हैं। हम बिना किसी चिंतन और विचार के पहले ही वाह्य जगत को मान लेते हैं। हम उसकी सत्ता में प्राणियों का नाश हो जाने पर भी विश्वास करते हैं। जरा सा भी दर्शन सब मनुष्यों की राय को नष्ट कर देता है। मनस् में केवल प्रत्यक्ष या प्रतिमूर्त्ति ही उपस्थित हो सकती है। हम यह साबित नहीं कर सकते कि प्रत्यक्ष वाह्य पदार्थों द्वारा उत्पन्न होता है जो प्रत्यक्ष से सर्वथा भिन्न होते हैं किंतु उससे सादृश्य रखते हैं (यदि ऐसा हो तो)। यहाँ अनुभव चुप रहता है क्योंकि मनस् के सामने केवल प्रत्यक्ष ही होते हैं।

हम दो प्रत्यक्षों में कारण कार्य का सम्वन्ध देखते हैं, इस सम्बन्ध को हम प्रत्यक्ष और वस्तु में नहीं देख सकते, अतएव हम वस्तुओं को प्रत्यक्ष का कारण नहीं मान सकते। यदि हम पुद्गल को उसके मुख्य और गौण गुणों से रहित कर दें तो हमें अपनी अनुमुद्राओं का कारण किसी अदृश्य, अज्ञेय चीज को मानना पड़ता है। यह धारणा इतनी अपूर्ण है कि कोई सन्देहवादी भी इसका विरोध करना उचित न समझेगा। हम स्वलक्षणों (things-in-themselves) की सत्ता के बारे में कुछ नहीं जानते। हमारे ज्ञान का विषय हमारी अनुमुद्राओं से जनित प्रत्यय हैं। हम यह साबित नहीं कर सकते कि वे अज्ञेय द्रव्य या वाह्य वस्तुओं या हमारे या ईश्वर द्वारा उत्पन्न होते हैं। आतमा में संवेदन अज्ञात कारणों से उत्पन्न होते हैं। हम यही कर सकते हैं कि अपने क्षेत्र को अनुभव, अनुमुद्राओं और प्रत्ययों तक सीमित कर लें। हम अपने प्रत्ययों का उपमान (comparison) कर सकते हैं। उनके सम्बन्धों को देख सकते हैं, उन सम्बन्धों के वारे में चिंतन कर सकते हैं और इस तरह प्रदर्शनात्मक ज्ञान पा सकते हैं। हम अपने संवेदनों का क्रम भी देख सकते हैं; आदतवश हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु से किसी सम्बन्ध द्वारा ग्रथित समझ लेते हैं और उस सम्बन्ध को कारण-कार्य कहते हैं।

हमें अपनी खोज उन्हीं विषयों तक सीमित रखनी चाहिए जिन्हें हमारी बुद्धि समझ सकती हो। दार्शनिक निर्णय साधारण जीवन के विमर्श मात्र ही हैं जिन्हें एक व्यवस्था और नियमितता दे दी जाती है। यदि दार्शनिकों को उन क्षमताओं की अपूर्णता, उनकी सीमित पहुँच और उनकी गलत क्रियाओं का ज्ञान रहे तो वे साधारण जीवन के परे जाने को लालायित न रहें। जगत की उत्पत्ति, प्रकृति की स्थिति के आदि-अन्त के बारे में हम सन्तोषजनक निष्कर्षों तक नहीं पहुँच सकते।

आत्म द्रव्य (Soul substance)

अतएव तत्वसमीक्षा (metaphysics) विश्व के परम् मूल और प्रकृति का ज्ञान होने के अर्थ में असम्भव है। बौद्धिक सृष्टि-शास्त्र (rational cosmology) पर प्रश्न करना बेकार है। आतमा के स्वत्व का विज्ञान बुद्धिपरक मनोविज्ञान (rational Psychology) भी नहीं हो सकता। हम अभौतिक, अविभाज्य, अमर आत्म-द्रव्य के बारे में कुछ नहीं जानते। द्रव्य की धारणा निरर्थक है चाहे उसे मनस् पर उपयोजित किया जाय चाहे पुद्गल पर। किसी विचारमय द्रव्य की निरवयवता (simplicity) और अविभाज्यता का मत सच्चा नास्तिक-वाद है। यदि हम इसे मानते हैं तो ह्यूम का कहना है कि हमें स्पिनोजीय मत को

स्वीकार करना चाहिए। हमें किसी निरवयव और तादात्म्यक् (identical) जीव का प्रत्यय भी नहीं होता जैसा कि कुछ दार्शनिक मानते हैं। मेरे अन्दर इस तरह का कोई सिद्धान्त नहीं है। "जब मैं अपने अन्दर 'मैं' को देखने की चेष्टा करता हूँ तो मैं किसी न किसी प्रत्यक्ष (गर्मी या ठण्डक, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, सुख या दुख) पर ही अटक जाता हूँ। बिना प्रत्यक्ष के मैं किसी समय भी 'मैं' को नहीं पकड़ पाता और प्रत्यक्ष के अलावा किसी चीज को देख भी नहीं सकता।" मनस् द्रुतगति से एक के बाद एक आनेवाले अविच्छिन्न प्रवाहयुक्त विभिन्न प्रत्यक्षों की राशि है। मनस् एक तरह का रंग-मंच है जिस पर अनेक प्रत्यक्ष असीम विभिन्न स्थितियों में मिलते हैं, प्रकट होते हैं और विलीन हो जाते हैं। मनस् में किसी एक समय न तो निरवयवता होती है और न अन्य समय तादात्म्य। हमें रंगमंच की उपमा से धोखा नहीं होना चाहिए। वे मनस् को निर्मित करनेवाले एक के बाद एक करके आनेवाले प्रत्यक्ष मात्र ही हैं। ये दृश्य कहाँ होते हैं और वे किस सामग्री से बने होते हैं इसकी हमें लेशमात्र भी जानकारी नहीं है। हरेक प्रत्यक्ष की अपनी अलग सत्ता होती है और वह अपने समकालीन या बाद में आनेवाले प्रत्यक्ष से भिन्न होता है, उसमें भेद किया जा सकता है और उन्हें पृथक किया जा सकता है। क्या तादात्म्य ऐसा सम्बन्ध है जो वस्तुत: अनेक प्रत्यक्षों को एक में बाँधता है या केवल उनके प्रत्ययों का कल्पना में संवास करता है? किसी व्यक्ति को "वही" कहते समय क्या हम उसके प्रत्यक्षों में कोई वास्तविक सम्बन्ध देखते हैं या उसके प्रत्यक्ष के बारे में बनाए गए प्रत्ययों में अनुभव करते हैं? बुद्धि वस्तुओं में किसी वास्तविक सम्बन्ध को नहीं देखती; कारण और कार्य का मेल भी प्रत्ययों के संवास की मिसाल है। अतएव तादात्म्य इन विभिन्न प्रत्यक्षों को मिलानेवाली या उनमें रहनेवाली कोई चीज नहीं है, वह एक गुण है जिसका हम प्रत्यक्षों पर आरोप कर देते हैं क्योंकि उनका विमर्श करते समय उनको मिलाने के प्रत्यय कल्पना में रहते हैं। मनस् विभिन्न प्रत्यक्षों की राशि है जो कुछ सम्बन्धों द्वारा सम्बद्धित रहते हैं और जिनमें गलती से निरवयवता और तादात्म्य मान लिया जाता है।

स्वतंत्रता और अनिवार्यता

कारण और अनिवार्यता का प्रत्यय प्रकृति के व्यापारों की एकरूपता से उत्पन्न होता है। जहाँ सदृश वस्तुएँ एक साथ पाई जाती हैं वहाँ मनस् आदत-वश एक के प्रकट होने पर दूसरी का अनुमान कर लेता है। सदृश वस्तुओं के एक साथ पाए जाने और एक के होने से दूसरी का अनुमान कर लेने से परे और कोई अनिवार्यता या सम्बन्ध नहीं है। अनिवार्यता के इस प्रत्यय को

मनुष्यों के इच्छित कर्मों पर भी उपयोजित किया गया है। सबने सदा से इसे माना है; स्वतन्त्रता और अनिवार्यता का झगड़ा कुछ गलतफहमियों की वजह से है जो कुछ परिभाषाओं से दूर हो सकती हैं। मनुष्यों के कामों में बहुत बड़ी समानता है। हर समय और हर जगह मनुष्यता लगभग एक समान ही रही है। उद्देश्य और इच्छित काम में कारण-कार्य की भाँति ही नियमितता और समानता है जिसे सारी मनुष्य जाति मानती है। अनिवार्यता के सिद्धान्त को माने बिना किसी विज्ञान या कार्य में लग सकना असम्भव लगता है। किंतु मनुष्य इस मत का शब्दों द्वारा विरोध क्यों करते हैं? इसलिए कि उन्हें अनिवार्यता की गलत धारणा होती है। वे यह विश्वास करते हैं कि प्रकृति में उन्हें कार्य-कारण के अनिवार्य सम्बन्ध जैसी कोई चीज दिखाई पड़ती है जो उन्हें जब वे अपने मनस् की क्रियाओं पर विमर्श करते हैं तो अपने उद्देश्य और कर्म में नहीं मिलती। अनिवार्यता प्रतिरोध न होकर क्रिया की समानता है, वह उद्देश्य और परिणाम का स्थाई संयोग है। स्वतन्त्रता संकल्प के अनुसार काम करने या न करने की शक्ति है; यदि हम चलना चाहें तो चल सकते हैं, यदि स्थिर रहना चाहें तो स्थिर भी रह सकते हैं। मनुष्य के कर्मों के इस गुण को कोई चाहे तो अनिवार्यता का नाम न दे किंतु जब तक अर्थ समझ में आता है शब्दों से कोई हानि नहीं है। सिद्धान्त निर्दोष है।

स्वतन्त्रता और अनिवार्यता की इस तरह व्याख्या करने पर वह नैतिकता के अनुकूल ही नहीं वरन् उसके आधार के लिए भी आवश्यक हो जाती है। अनिवार्यता सदृश वस्तुओं का स्थाई संयोग है या फिर बुद्धि द्वारा एक वस्तु से दूसरी का अनुमान करना है। हम मनुष्य के कर्मों से अनुमान लगाते हैं; हमारे अनुमान सदृश कर्मों के सदृश उद्देश्यों के संयोग के अनुभव पर आधारित होते हैं। यदि कोई मनुष्य अपने चरित्र और प्रवृत्ति के किसी कारण से कोई काम नहीं करता तो वह उस काम का उत्तरदायी नहीं है। जहाँ स्वतन्त्रता न हो वहाँ मनुष्य के कर्म नैतिकता के क्षेत्र में नहीं आते, वे समर्थन या घृणा का विषय नहीं बन सकते। मनुष्य के आन्तरिक चरित्र आदि से निकले हुए कर्म ही नैतिक कहे जा सकते हैं; उस अर्थ में वे स्वतन्त्र हैं; जहाँ वे बिल्कुल वाह्य विषयों पर आश्रित होते हैं वे प्रशंसा या दोष नहीं पाते; वे स्वतन्त्र नहीं होते।

ईश्वर

हम जगत की स्वतन्त्र सत्ता का प्रदर्शन नहीं कर सकते यद्यपि हम उसमें विश्वास करते हैं; बौद्धिक सृष्टि-शास्त्र (Rational cosmology) असंभव है। हम आत्म द्रव्य की सत्ता या आतमा की अमरता को भी प्रदर्शित नहीं कर सकते;

बुद्धिपरक मनोविज्ञान असम्भव है। हम ईश्वर की प्रकृति, उसके विशेषण, उसकी अनुज्ञा और योजना के बारे में कुछ भी प्रदर्शित नहीं कर सकते। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए मानवी बुद्धि अत्यन्त क्षीण है और उसका क्षेत्र सीमित है; बुद्धिपरक ईश्वरवाद (Rational Theology) असम्भव है। जब हमें पत्थर के उन तत्वों में जिससे उसका प्रपंच बनता है बहुत सी ऐसी बातें मिलती हैं जो विरोधी होती हैं और जिनकी व्याख्या नहीं हो सकती तो हम जगत के मूल और शाश्वतता से शाश्वतता तक उसके इतिहास के बारे में कोई निर्णय कैसे कर सकते हैं। जब हम वस्तुओं के अतीत और भविष्य, विश्व के निर्माण, स्पिरिटों की सत्ता और उनके गुण और एक सार्वभौम अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, कूटस्थ, असीम और अज्ञेय स्पिरिट की शक्ति और उसकी क्रियाओं के बारे में सोचते हैं तो हम अपनी सामर्थ्य के बाहर चले जाते हैं।

प्रश्न ईश्वर की सत्ता के बारे में न होकर उसकी प्रकृति के बारे में है। ईश्वर की सत्ता से बढ़कर निश्चित और कोई सत्य नहीं ह; वह हमारी सारी आशाओं का आधार, आचारिकता का आश्रय और समाज की नींव है। कारण के बिना किसी चीज की सत्ता नहीं होती और हम विश्व के मूल कारण को (चाहे वह कुछ भी हो) ईश्वर कहते हैं और उसमें पूर्णता का आरोप करते हैं। किंतु हम उसकी दैवी सत्ता के विशेषणों को नहीं समझ सकते और उसकी पूर्णता मानवी पूर्णता से समानता नहीं रखती। ह्यूम विश्व की व्यवस्था, सुन्दरता आदि से ईश्वर के सत्व और ज्ञान का अनुभव करने की चेष्टा करने वाले तथाकथित लक्ष्यात्मक प्रमाण (teleological proof) पर आघात करता है। जब तक दो बातों में पूरा सादृश्य न हो तब तक हम अनुमान पर भरोसा नहीं कर सकते। विश्व में और मकानों, जहाजों, मशीनों आदि में भारी भेद है और हम कार्यों (effects) की जरा सी सदृशता से सदृश कारणों का अनुमान नहीं कर सकते। यह सच है कि बुद्धि एक सक्रिय कारण है जिससे प्रकृति के कुछ विशिष्ट भाग दूसरे भागों में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। किंतु मनुष्यों और जानवरों में पाई जाने वाली बुद्धि, चिंतन, योजना आदि गर्मी, ठण्डक, आकर्षण आदि रोज देखने में आनेवाली सैकड़ों बातों की भाँति विश्व के मूल और सिद्धान्तों से अधिक कुछ नहीं हैं। हम अवयव से अवयवी (whole) तक नहीं पहुँच सकते। यदि हम ऐसा करें भी तो मस्तिष्क के अन्दर विचार कही जानेवाली खुजली किस खेत की मूली है जिसे सम्पूर्ण विश्व का आदर्श बनाया जाय? क्या हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रकृति इतने बड़े विश्व की लगातार नकल करती रहती है? मकान देखने पर हम निश्चितता से

उसके बनाने को मान लेते हैं क्योंकि यह कार्य की वह श्रेणी हैं जिसे हमने कारण की श्रेणी में अनुभव कर लिया है। किंतु विश्व मकान नहीं है जो उसके कारण के बारे में भी हम उतनी ही निश्चितता से अनुमान कर सकें। यहाँ पर इतनी बड़ी असमानता है कि हम सदृश कारण के बारे में केवल अटकल ही लगा सकते- हैं।

हम ईश्वर को मानवी मनस् के सदृश नहीं बना सकते; ऐसा करना उसे मानवी रूप देना होगा। मानवी मनस् परिवर्तनशील है और वह ईश्वर के अनुकूल नहीं पड़ता जो पूर्ण कूटस्थ और विशिष्ट है। हम भौतिक जगत तक ही क्यों नहीं रुक जाते? सर्वोपरि सत्ता को निर्मित करने वाले विभिन्न प्रत्ययों में अपनी प्रकृति द्वारा ही व्यवस्था होती है। इसका अर्थ इस कथन से अधिक नहीं है कि भौतिक जगत के अवयव भी अपनी ही प्रकृति से व्यवस्थित होते हैं। हमें मनस् और पुद्गल का ऐसा अनुभव है।

विश्व की प्रकृति से ईश्वर की प्रकृति अनुमान करने का प्रयत्न व्यर्थ है। इस मानव-केन्द्रित (anthropomorphic) चिंतन से हम दैवी सत्ता में असीमता का आरोप नहीं कर सकते क्योंकि कार्य (effect) असीम नहीं है; चूंकि विश्व पूर्ण नहीं है इसलिए पूर्णता का आरोप भी नहीं हो सकता। यदि विश्व पूर्ण भी होता तब भी उसकी सारी बातों के लिए उसके निर्माता को उत्तरदायी ठहराना अनिश्चित ही रहता। हो सकता है कि इस दुनियाँ को बनाने के पहले न जाने कितनी दुनियाँ मिटाई गई हों, न जाने कितना परिश्रम अकारथ गया हो, न जाने कितने प्रयत्न किए गए हों और न जाने जगत-निर्माण में असंख्यक युगों तक धीरे-धीरे कितने सुधार हुए हों। और इस तर्क से ईश्वर की एकता का प्रमाण नहीं मिलता; हो सकता है अनेक देवताओं ने मिलकर सृष्टि रचना की हो। मनुष्य मरणशील हैं और सन्तान द्वारा अपनी जाति को अक्षुण्ण रखते हैं; ऐसी दशा में यदि हम साधर्म्य(analogy) से तर्क करें तो देवताओं को इस सार्वभौम परिस्थिति से क्यों मुक्त रक्खा जाय? और मानव केन्द्रित दृष्टिकोण को पूरा करने के लिए हम ईश्वर और देवताओं को भी सशरीर क्यों न मान लें।

ह्यूम के अनुसार वह दृष्टिकोण जो जगत को प्राणमय और ईश्वर को उसको प्रेरित करनेवाली और उससे प्रेरित होने वाली आत्मा मानता है मानव केन्द्रित दृष्टिकोण से अधिक उपपन्न और मान्य है। जगत घड़ी या करघे की भाँति न होकर प्राण और जीवनमय अधिक है। अतएव उसके कारण को प्राणमयता के कारण से समानता रखना अधिक सम्भव है। जीवन का

कारण उत्पत्ति करना है। अतएव हम जगत के कारण को भी उत्पत्ति करने के कारण के सदृश मान सकते हैं।

यह सच है कि ये केवल कपोल कल्पनाएँ ही हैं और हमारे पास जगत की उत्पत्ति की किसी व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने के साधन नहीं हैं। हमारा अनुभव अपूर्ण और सीमित है और वस्तुओं की सम्पूर्णता के बारे में कोई सम्भव अटकल नहीं लगा सकता। जगत को प्राणमय और मनुष्य का निर्माण समझने वाले दोनों मत समान रूप से उपपद्य हैं किंतु पहले में साधर्म्य दूसरे से अधिक ज्वलन्त हैं।

ह्यूम यह भी कहता है कि हम विश्व से मनुष्यों की भाँति नैतिक विशेषण रखनेवाली किसी सत्ता का अनुमान नहीं कर सकते। प्रकृति का उद्देश्य जाति को बढ़ाना और सुरक्षित रखना ही है, उसको सुख देना नहीं है। जगत में सुख से दुख अधिक है। दुख की उपस्थिति इस बात का सबूत है कि ईश्वर या तो कृपानिधान नहीं है या सर्वशक्तिमान नहीं है। नैतिक और भौतिक पाप हमें हितैषी ईश्वर को नहीं मानने देते। यह कहा जा सकता है कि मानवी बुद्धि विश्व के उद्देश्य को समझ सकने के लिए दुर्बल है; किंतु हम इससे ईश्वर के श्रेयस् (goodness) के बारे में कोई अनुमान नहीं कर सकते। मनुष्य को अनुमान अपने ज्ञान से करना चाहिए, अज्ञान से नहीं।

हम प्रागनुभव (a priori) रूप से यह प्रदर्शित नहीं कर सकते कि ईश्वर आवश्यक रूप से सत् है। किसी सत्ता के असत् होने में कोई बाधा नहीं है। हम ईश्वर की प्रकृति से उसकी सत्ता का सबूत नहीं दे सकते क्योंकि हम उसकी प्रकृति को नहीं जानते। हम यही जान सकते हैं कि शायद भौतिक में ऐसे गुण हों जो ईश्वर के असत् होने को अग्रहणीय बनाते हों।

धर्म के मूल के सम्बन्ध में ह्यूम का यह कहना है कि ईश्वर में विश्वास करना सत्य-प्रेम, उत्सुकता आदि का परिणाम न होकर सुख की इच्छा, भविष्य और मौत से डर, प्रतिशोध की प्यास, भोजन और अन्य आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। बहुदेववाद या मूर्त्तिपूजा, ईश्वरवाद नहीं, ही पहला प्राचीन धर्म रहा होगा।

इन सन्देहवादी विमर्शों के होते हुए भी ह्यूम यह कहता कि कोई समझदार आदमी यदि उसे ईश्वर का ख्याल सुझाया जाय तो उसे अस्वीकार नहीं करेगा। हर चीज से एक उद्देश्य, एक योजना स्पष्ट होती है और जब हम इस व्यवस्था का आदि खोजते हैं तो हम पूर्ण विश्वास के साथ किसी बुद्धिमय कारण या निर्माता का प्रत्यय अपनाना चाहिए। अदृश्य शक्ति में आस्था रखने

की सार्वभौम प्रवृत्ति को चाहे वह मूल स्वभाव न हो किंतु मानवी प्रकृति को सहचारी होने से उसे दैवी कारीगर की छाप माना जा सकता है जो उसने अपनी सृष्टि पर लगा दी है। पहले कही गई बातों के होते हुए हम इसको कितनी गम्भीरता से लें इसका निर्णय पाठक स्वयं ही करें।

अ-बुद्धिवाद (Anti-Intellectualism)

ईश्वरवाद (theology) प्रदर्शनात्मक विज्ञान नहीं है; हम ईश्वर की सत्ता या विशेषण का सबूत नहीं दे सकते। लक्ष्यात्मक युक्ति अपूर्ण है; मानव-केन्द्रित दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण है। अट्ठारहवीं शती का विरोध करते हुए ह्यूम विश्व की आवयविक (organic) धारणा की ओर प्रवृत्त होता है। उसके धर्म के मूल का दृष्टिकोण भी अट्ठारहवीं शती की धारणा के प्रतिकूल है जिसके अनुसार धर्म का मूल या तो प्राचीन मनुष्यों की बुद्धि से है और या धूर्त पुरोहितों का आविष्कार है। ह्यूम इस तरह की धारणाओं को अस्वीकार करता है: ईश्वर में विश्वास किसी चिंतन का परिणाम न होकर मनुष्य की भावुक प्रकृति पर निर्भर है। यहाँ बुद्धिपरक व्याख्या का स्थान ऐच्छिक व्याख्या ने ले लिया है; धर्म की जड़ संकल्प में है। धर्म बनाए नहीं जाते, वे विकसित होते हैं; ईश्वरवाद बहुदेववाद का विकास है। ह्यूम ने यही विचार अपनी राज्य विषयक धारणा में भी प्रकट किए हैं। वह अट्ठारहवीं शती में पक्षपात पानेवाली ईश्वरवादी धारणा और अनुबन्ध सिद्धान्त (contract theory) दोनों को नहीं मानता। सबके हित के लिए कोई राजीनामा नहीं बनाया गया था; इसको तो जंगली आदमी भी नहीं समझ सकता। तत्कालिक आवश्यकताओं ही के अनुकूल मुखिया की प्रभुता सूचक हर अनुज्ञा व्यक्तिगत रही होगी। किंतु उस प्रभुता के अन्तःस्थापन से प्रकट होने वाली उपयोगिता ने उसकी अनुज्ञा को प्रति दिन अधिक सामान्य और लोकप्रिय बनाया होगा जिससे लोगों में धीरे-धीरे आदत और, यदि कहा जाय, इच्छित औरइसलिए अनिश्चित, मौन सहमति पैदा हो गई होगी। यदि हम शासन का प्रथम मूल जंगलों और रेगिस्तानों में ढूंढ़े तो सारी शक्ति और न्याय का उद्गम लोगों में ही मिलेगा जिन्होंने शांति और व्यवस्था के लिए स्वेच्छा से अपनी जन्म जात स्वतन्त्रता को छोड़कर अपने साथियों और बराबर वालों से मिलने वाले विधान को स्वीकार किया होगा। यहाँ पर बुद्धिवादी धारणा का स्थान ऐतिहासिक और मूलात्मक (genetic) दृष्टिकोण ने ले लिया।

—:o:—

११

इंग्लैंड में बुद्धिवादी प्रतिक्रिया

(Rationalistic Reactions in England)

केम्ब्रिज सम्प्रदाय

यद्यपि राजर बेकन और विलियम आव् ओकाँम के समय से वर्तमान काल तक अँगेजी विचारधारा में अनुभववाद की प्रधानता रही तथापि उसका विरोध भी एक दम नहीं मिटा। विश्वविद्यालयों और ईश्वरवादियों में शास्त्रीयतावाद (scholasticism) की परम्परा जीवित रही और हाब्स, लाक और ह्यूम के क्रांतिकारी विचारों की विरोधी प्रतिक्रिया से दर्शन की अध्यात्मवादी (spiritualistic) व्यवस्थाओं का उदय हुआ। कैम्ब्रिज के प्रोफेसर रैल्फ कडवर्थ (१६१७-१६८८) ने ईसाई-प्लेटोवादी (Christian Platonism) दृष्टि से हाब्स की भौतिकवादी और नास्तिक शिक्षाओं का विरोध किया। उसने देकार्त के बुद्धिवाद को तो माना किंतु नास्तिकता की ओर ले जानेवाली प्रकृति की यांत्रिक व्याख्या को अस्वीकार किया। सब मनुष्यों को समान पूर्व धारणाएँ होती हैं और वही सत्य होती हैं जिनका प्रत्यक्ष स्पष्ट रूप से होता है। यह प्रागनुभव (a priori) विकल्प (categories) सार्वभौम चिंतन या ईश्वरीय मनस् का स्थाई विमर्श हैं और इन्हीं से पदार्थों का स्वत्व और प्रकृति निर्मित है। इस तरह के जन्मजात सत्यों में नैतिक नियम हैं जो गणित की मान्यताओं की भाँति ही ईश्वर से सम्बद्धित हैं।

अनुभव से न मिलने वाले सार्वभौम और अनिवार्य, अनुमानित और व्यावहारिक सत्यों के होने की बुद्धिवादी धारणा अट्ठारहवीं शती की अँग्रेजी विचारधारा में बनी रहती है। सैमुएल क्लार्क (१६७५-१७२९) की शिक्षा के अनुसार वस्तुओं में शाश्वत और अनिवार्य भेद और सम्बन्ध होते हैं और मानवी और ईश्वरीय बुद्धि उनको उसी हालत में देखती है जिसमें वे हैं। कोई भी ठीक गणितात्मक या नैतिक सत्य को मानने से इनकार नहीं कर सकता। विलियम वोलैस्टन (१६५९-१७२४) और रिचर्ड प्राइस (१७२३-

१७९१) इस दृष्टिकोण से सहमत हैं जो बाद में रीड के स्काटीय दर्शन और उसके सम्प्रदाय द्वारा व्यवहृत किया गया।

सामान्य-बुद्धि का स्काटीय सम्प्रदाय (Scottish Common-Sense School.)

टामस रीड (१७१०-९६) के नेतृत्व में स्काटीय सम्प्रदाय ने बार्कले के प्रत्ययवाद और ह्यूम के सन्देहवाद के प्रति प्रतिक्रिया की। अनुभववाद का पर्यवसान उन्हीं वस्तुओं का तिरस्कार करने में हुआ जिन्हें मनुष्य की सामान्य बुद्धि (common sense) ज्ञान के सबसे निश्चित तथ्य समझती है, जैसे वाह्य जगत और अमर आत्मा की सत्ता। अनुभववाद ने सत्य की संभावना पर ही सन्देह कर दिया। यदि द्रव्य और कारण की धारणा भ्रम है और पदार्थ हमारे मनस् में प्रत्यय मात्र ही हैं तो कोई द्रव्यात्मक आत्मा नहीं हो सकती, ईश्वर की सत्ता का प्रदर्शन नहीं हो सकता और दर्शन शास्त्र समाप्त हो जाता है। दर्शन मनुष्य की सामान्य चेतनता का विरोध नहीं कर सकता। संवेदन से हमें पदार्थ की वास्तविकता में तत्काल विश्वास होता है और यह तात्कालिक निश्चितता ही सत्य की कसौटी है। सारे सिद्धान्त इन्हीं स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों पर आधारित हैं जिनका और कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इन सिद्धान्तों और सत्य की कसौटी का ज्ञान सामान्य बुद्धि है। यह सिद्धान्त जिन्हें हम अवलोकन से ढूँढ़ते हैं या तो अनिवार्य सत्यों के प्रथम सिद्धान्त या उपपद्य सत्यों के सिद्धान्त हैं और या फिर इतिवृत्तात्मक तथ्यों (matters of facts) की अभिव्यक्ति करनेवाले सत्य हैं। रीड तर्कशास्त्र, गणित, व्याकरण, नैतिकता और तत्वसमीक्षा के सिद्धान्तों को पहली श्रेणी में रखता है दूसरी श्रणी में वह मुझे जिन चीजों का बोध है उनको रखता है, मुझे जिन विचारों का बोध है वह उस सत्ता के विचार हैं जिसे मैं अपना "अहम्" या "मनस्" कहता हूँ, वह हमारा व्यक्तिगत तादात्म्य और सदा रहनेवाली सत्ता है। हम अपनी इन्द्रियों से जिन चीजों को स्पष्ट देखते हैं उनकी वास्तविक सत्ता होती है और वे वैसी ही होती हैं जैसा हम उन्हें देखते हैं। हमें अपने संकल्प और क्रियाओं पर कुछ हद तक अधिकार है, सत्य और भ्रम में भेद करनेवाली प्राकृतिक शक्तियाँ गलती नहीं करतीं; हमारे साथियों में बुद्धि और जीवन है; जो कुछ होगा वह शायद वैसा ही होगा जो समान परिस्थिति में पहले हो चुका है।

स्काटीय सम्प्रदाय के दूसरे सदस्य जेम्स बीटी (१७३५-१८०३),

जेम्स ओसवाल्ड (१७९३) और डूगल्ड स्टीवर्ट (१७५३-१८२८) हैं। टाँमस ब्राउन (१७७८-१८२०) ह्यूम की शिक्षाओं को सामान्य-बुद्धि के दर्शन से समन्वित करने को कोशिश करता है। यह दर्शन सर विलियम हैमिल्टन में कांट को आलोचना (criticism) से प्रभावित है। प्रबुद्ध काल के जर्मन दार्शनिक स्काटोय दर्शन की ओर आकृष्ट हुए थे क्योंकि उसमें और उनमें बहुत कुछ समानता थी। उन्होंने स्काटीय सम्प्रदाय की अनेक पुस्तकों का अनुवाद भी किया था। फ्रांस में रायर-कोलार्द और तामस जोफरो ने संवेदनवाद (sensationalism), भौतिकवाद (materialism) और भाववाद (positivism) के विरोध में सामान्य बुद्धि के दर्शन का समर्थन किया।

—:o:—

जर्मनी में बुद्धिवाद का विकास

(Development of Rationalism in Germany)

१२

गोटफ्रीट विल्हेल्म लाइबनित्स

जर्मन संस्कृति का उदय

अठारहवीं शती के पहले जर्मनी में दर्शन की उन्नति नहीं हुई थी। सुधारण काल (Reformation) और तीस वर्षीय युद्ध (१६१८-४८) के बाद के ऊसर ईश्वरवादी वादविवाद दर्शन और विज्ञान की उन्नति के अनुकूल नहीं थे। जिस समय इँग्लैंड ने शेक्सपियर, बेकन, मिल्टन और लाक को, फ्रांस ने मांटेन, कोरनिये, रासीं, मोलियर. पैस्कल और देकार्त को पैदा किया उस समय लूथर के देश (जर्मनी) में संस्कृति निम्न स्तर पर ही थी। जर्मन भाषा भी साहित्यिक माध्यम नहीं रह गई थी। उच्चवर्ग के लोग फ्रेंच बोलते थे और विद्वान लैटिन में लिखते थे; मातृभाषा केवल साधारण लोग ही बोलते थे। फ्रांसीसी पैतृक नमूने पर बने और फ्रांसीसी शिष्टाचार की नकल करनेवाले असंख्यक दरबारों में फ्रांसीसी संस्कृति प्रवेश पा चुकी थी। जर्मनी के स्वतंत्र प्रदेशी सामन्त राज्यों में बँट जाने से राष्ट्रीयतावाद का अन्त सा हो गया और जर्मनों को जर्मन शब्द से घृणा हो गई। इँग्लैंड और फ्रांस की भाँति यहाँ भी विश्वविद्यालयों ने आधुनिक विचारों के प्रसार में भाग नहीं लिया। नवीन विज्ञान और दर्शन विश्वविद्यालयों के बाहर पनपा और उसे शिष्ट शिक्षित समाज से प्रोत्साहन मिला। प्राकृतिक नियम के मत का समर्थन करनेवाला सैमुएल पूफेन्डोर्फ (१६३२-९४), जर्मन भाषा में पहला पत्र निकालने और लाइपत्सिक विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम जर्मन भाषा में भाषण देनेवाला क्रिश्चन टोमैसियस (१६५५-१७२८) और गणित, न्याय शास्त्र (Jurisprudence) और दर्शन में यश पैदा करनेवाला लाइबनित्स जर्मनी में नवीन संस्कृति के पहले प्रतिनिधि हैं। स्पिनोजा और लाइबनित्स से पत्र-व्यवहार करनेवाले

वाल्टर फोन शोर्नहाउजेन ने गणितात्मक प्रणाली को स्वीकार करते हुए यह माना कि सारे निगमनों को अनुभव के तथ्यों से शुरू होना चाहिए और उनकी सिद्धि भी अनुभव में होना चाहिए। ये सब विचारक जर्मनी में नवीनतावाद के जन्मदाता और प्रबुद्धकाल के अग्रभावी हैं। प्रबुद्धकाल ने अपने बीज तो इंग्लंड और फ्रांस में डाले किंतु फसल काटी लेजिंग, गेटे और कांट के देश में।

समस्या

देकार्त व्याख्या करने के लिए दो विभिन्न सिद्धान्तों, शरीर और मनस्, को मानता है जिनके अनिवार्य विशेषण प्रपंच और विचार हैं। स्पिनोजा एक सार्वभौम द्रव्य को मानता है जिसमें विचार और प्रपंच दोनों हैं। दोनों दार्शनिक मानसिक और भौतिक को सर्वथा अलग व्यवस्था मानते हैं, भेद यही है कि देकार्त मानवी मस्तिष्क के एक बिन्दु में मनस् और शरीर की अन्तर्क्रिया स्वीकार करता है। भौतिक पक्ष को हरेक चीज की भौतिक व्याख्या की गई है : दोनों दार्शनिकों के लिए मूर्त विश्व एक मशीन है। यंत्रवादी व्याख्या को आधुनिक दार्शनिकों और प्राकृतिक विज्ञानियों ने स्वीकार किया था। इसका कड़ा विरोध बहुत से विश्वविद्यालयों में प्रभुत्व रखनेवाले दार्शनिक ईश्वर-वादी शास्त्रीयतावाद से हुआ। यंत्रवादी व्याख्या को निरीश्वर सिद्धान्त कह के उसका तिरस्कार किया गया क्योंकि वह जगत में दैवी उद्देश्य को नहीं मानती थी। अपने पूर्वजों की भाँति लाइबनित्स भी विश्वविद्यालय में शास्त्रीयतावाद से परिचित हुआ और जवानी में वह प्रोटेस्टेंट लोगों के परम्परागत जगत विषयक दृष्टिकोण का हामी रहा। किंतु आधुनिक दर्शन और विज्ञान के अध्ययन विशेषकर अपरिमित कलन (infinitesimal calculus) में उसकी खोजों ने उसके विचारों को उन्नत किया जिससे उसको एक ऐसे दृष्टि-कोण की आवश्यकता प्रतीत हुई जो आधुनिक विज्ञान और दर्शन की खोजों के साथ साथ ईसाई-शास्त्रीयतावाद के मूल्यवान तत्वों के साथ भी न्याय करे। कोई ऐसी व्यवस्था हो जो यंत्रवाद और प्रयोजनवाद (teleology), प्राकृतिक विज्ञान और ईश्वरवाद और प्राचीन और नवीन दर्शन का समन्वय करे। और उसके शिक्षक वाइगेल, योना के गणितज्ञ, ने उसको एक ऐसे सत्य की दृढ़ धारणा करा दी थी जो बाद में उसके जगत विषयक दृष्टिकोण बनाने के सारे प्रयत्नों का आधार और निर्दिष्ट सिद्धान्त बनी रही। वह धारणा थी पाइथागोरसीय-प्लेटोवादी विश्वसामञ्जस्य की। लाइबनित्स ने इस विश्वास को कभी नहीं छोड़ा कि विश्व गणित और तर्क शास्त्र के सिद्धान्तों द्वारा संचालित एक सामञ्जस्यपूर्ण अवयवी (whole) है; अतएव गणित और तत्व-

समीक्षा मूलभूत विज्ञान हैं और प्रदर्शनात्मक प्रणाली ही दर्शन की सच्ची प्रणाली है।

गोटफ्रीट विल्हेलम लाइबनित्स (१६४६-१७१६) लाइपत्सिक में जन्मा था। उसने येना और आल्टडोर्फ विश्वविद्यालयों में कानून, दर्शन और गणित पढ़ी थी और अपने बीसवें वर्ष में आल्टडोर्फ विश्वविद्यालय से कानून में आचार्य (doctorate) का पद लिया था। उसके शिक्षकों में विख्यात क्रिश्चियन टोमैसियस का पिता याकोब टोमैसियस और वाइगेंल थे। मेयेन्स में (१६७०-७२), जहाँ वह एलेक्टोरेट के वैधानिक कार्य-विधि के सुधार में लगा हुआ था, रहने और पेरिस में एक कूटनीतिक मिशन पर जाने के बाद (१६७२-७६) वह हैनोवर में दरबार के पारिषद् और पुस्तकाध्यक्ष के पद पर बुला लिया गया। पुस्तकाध्यक्ष वह अपने मरने तक (१७१६) रहा।

ओज (force) की धारणा

लाइबनित्स नवीन विज्ञान की मान्यताओं की परीक्षा करके उन्हें अपर्याप्त पाता है। प्रपंचित वस्तुओं और गति की धारणा मात्र से भौतिक विज्ञान के तथ्यों की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं हो सकती।। देकार्त की शिक्षा थी कि गति का परिणाम स्थाई है। किंतु वस्तुएँ चल भी रहती है और अचल भी रहती हैं, लगता है कि गति नष्ट हो जाती है और फिर आ जाती है। यह अविच्छिन्नता(continuity) के सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार प्रकृति में विच्छेद नहीं है। गति रुक जाने पर किसी ऐसी चीज को होना चाहिए जो बनी रहे और जो गति का आधार हो : यह ओज (forces) या वस्तु के गतिमय होने या गति को बनाए रखने की प्रवृत्ति (conatus) है, ओज (force) का परिमाण स्थाई है। अतएव ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो क्रिया न करता हो; जो क्रिया नहीं करता उसकी सत्ता नहीं होती, सत् वही है जिसमें क्रियाकारित्व हो। अतएव पदार्थ का मुख्य विशेषण प्रपंच न होकर ओज (force) है। इसलिए गति के स्थाई रहने के नियम का स्थान ओज(force) के स्थाई रहने के नियम को लेना चाहिए। पदार्थ का मुख्य गुण प्रपंच नहीं हो सकता, इसका दूसरा प्रमाण प्रपंच की संमिश्र प्रकृति है : जो अवयवों (parts) से मिलकर बनता है वह प्रमुख सिद्धान्त नहीं हो सकता, उस सिद्धान्त को निरवयव होना चाहिये और ओज (force) ऐसी ही निरवयव अविभाज्य वास्तविकता है।

लाइबनित्सीय दर्शन में प्रकृति की ज्यामिति रूपेण या गतिहीन व्याख्या की

जगह गतिशील (dynamic) या ऊर्जस्वी (energetic) व्याख्या की गई है। पदार्थों की सत्ता प्रपंच के कारण नहीं होती वरन् प्रपंच की सत्ता पदार्थों (forces) के कारण होती है : ओज या ऊर्जस्व पदार्थों के बिना प्रपंच नहीं हो सकता। देकार्त के अनुसार वस्तुओं की सत्ता के लिए प्रपंच को मानना पड़ता है; लाइबनित्स के अनुसार प्रपंच के लिए पदार्थों या ओज (force) की सत्ता को मानना पड़ता है। ओज "यांत्रिक जगत" का उद्गम है और यांत्रिक जगत ओज का दृश्य प्रतिभास है। "प्रपंच पदार्थ में किसी ऐसे गुण, विशेषण या प्रकृति की हामी भरता है जो अपने को प्रपंचित करती है, बाहर फैलाती है और बनाए रखती है।" पदार्थ में सारे प्रपंचों से पहले एक ओज होता है। पदार्थ में प्रतिरोध का ओज (force of resistance) होने से ही पदार्थ सीमित और अभेद्य या पुद्गल (matter) मालूम पड़ता है। ओज (force) की हर इकाई आत्मा और पुद्गल, सक्रियता और निष्क्रियता का अविभाज्य मेल होती है। ओज (force) एक व्यवस्था देने वाली, आत्मनिर्धारण करने वाली उद्देश्यात्मक चीज है जो अपने को सीमित कर लेती है या उसमें प्रतिरोध की ताकत होती है।

अतएव लाइबनित्स ने ओजों की सामञ्जस्यपूर्ण सहवर्त्तिता (co-existence) को ही प्रसर (space) माना है। अतएव प्रसर (space) की स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं है, ऐसा कोई निरपेक्ष प्रसर नहीं है जिसमें वस्तुओं की सत्ता होती हो। प्रसर (space) पदार्थ-सापेक्ष है और पदार्थों के विलीन होने से वह (प्रसर) भी विलीन हो जाता है। ओज (forces) प्रसर पर निर्भर नहीं होते वरन् प्रसर ओजों पर निर्भर होता है। इसलिए वस्तुओं में और उनसे परे शून्य प्रसर नहीं होता : जब ओज (forces) क्रिया करना बन्द कर देते हैं तो जगत का अन्त हो जाता है।

मोनडों का सिद्धान्त

पदार्थ निरवयव (simple) ओजों (forces) की अनेकता हैं। चूंकि अनेक वस्तुओं की सत्ता होती है अतएव प्रकृति में एक ओज न होकर असीम संख्यक ओज हैं जिनमें से हरेक एक विशिष्ट, पृथक द्रव्य होता है। अविभाज्य और निरवयव होने से ओज अभौतिक और अप्रपंचित होता है। लाइबनित्स निरवयव द्रव्यों या ओजों को तात्विक बिन्दु (metaphysical points), रूपात्मक परमाणु (formal atoms), प्रधान रूप, द्रव्यात्मक रूप, इकाई या "मोनड" कहता है। मोनड भौतिक बिन्दु (physical point) नहीं है क्योंकि भौतिक बिन्दु सम्पीड़ित वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मोनड गणितात्मक बिन्दु (mathematical points) भी नहीं हैं क्योंकि वे 'सत्य' होते हुए भी 'वास्तविक' नहीं होते; वे केवल 'दृष्टिकोण' (points of view) ही होते ह । तात्विक बिन्दु ही सत्य और वास्तविक होते हैं; उनके बिना कोई वास्तविकता नहीं हो सकती क्योंकि इकाइयों (units) के बगैर विभिन्नता या अनेकता नहीं हो सकती। ऐसे ओज परमाणुओं को शाश्वत होना चाहिए : वे नष्ट नहीं किए जा सकते,–उनको कोई चमत्कार ही नष्ट कर सकता है––उनका सृजन भी नहीं हो सकता; मोनड न तो प्रकट हो सकते हैं और न अप्रकट। विशिष्ट सक्रिय द्रव्यात्मक रूपों की शास्त्रीय धारणा जिसे लाइबनित्स ने अपने विश्वविद्यालय में ग्रहण किया था, इस तरह विशिष्ट ओजों (forces) की धारणा बना दी गई है ।

पदार्थ जगत असीम संख्यक गतिशील इकाइयों या अभौतिक, अप्रपंचित निरवयव ओज की इकाइयों से निर्मित है। इस सिद्धान्त के बारे में हम अधिक क्या कह सकते हैं, हम इसका अध्ययन कहाँ कर सकते हैं? अपने आप में हम अपने आन्तरिक जीवन में ऐसे निरवयव अभौतिक द्रव्य को पाते हैं : आत्मा ऐसा ही द्रव्य है। जो बात आत्मा के लिए सच है वह एक हद तक सारे मोनडों के लिए भी सच होगी। साधर्म्यता से तर्क देते हुए लाइबनित्स मोनडों की व्याख्या आध्यात्मिक या मानसिक ओजों के रूप में करता है। हमारे संवेदनों, प्रवृत्तियों और मोनडों में कुछ साधर्म्य है; उनमें "प्रत्यक्ष" (perception) और इच्छा (appetition) होता है। मानवी मनस् में अभिव्यक्ति होने वाला सिद्धान्त पदार्थों और जानवरों में भी है। ओज (force) हर जगह है, शून्य कहीं नहीं है। पुद्गल का हरेक भाग पौधों से भरे एक उपवन के समान है। सारा पुद्गल अपने सूक्ष्मतर भागों तक प्राणमय और सक्रिय है।

किंतु पौधों और पत्थर में मनस् (mind) कैसे हो सकता है? लाइबनित्स का कहना है कि मनस् मनुष्यों, पौधों और पत्थर में समान नहीं है। देकार्त के लिए मनस् में कुछ भी अचेतन और पुद्गल में कुछ भी अप्रपंचित नहीं था। भौतिक विज्ञान के तथ्य यह बताते हैं कि प्रकृति मुख्यतया अभौतिक है और मनोविज्ञान के तथ्य यह बताते हैं कि मनस् प्रधानतः अचेतन है। पदार्थ और प्रपंच में तादात्म्य नहीं है और मनस् और चेतनता में भी तादात्म्य नहीं है। मनस् प्रत्यक्षों और प्रवृत्तियों से निर्मित होता है। इन प्रत्यक्षों की स्पष्टता विभिन्न मोनडों में अलग-अलग होती है; मानवी मनस् में भी प्रत्यक्षों की स्पष्टता के विभिन्न अंश होते हैं। किसी वस्तु को ध्यानपूर्वक देखने से वह बहुत स्पष्ट होती जाती है और उसके आसपास की वस्तुएँ अस्पष्ट होती जाती हैं और

कुछ देर बाद वे दिखाई सी भी नहीं पड़तीं। जो वस्तु ध्यान (attention) से जितनी दूर होती है वह उतनी ही अस्पष्ट होती है। इसलिए प्रत्यक्ष स्पष्ट भी होते हैं और अस्पष्ट भी; अस्पष्ट "लघु प्रत्यक्ष" (small perceptions) कहलाते हैं। संवेदन सागर के निनाद में हरेक पृथक लहर की गति द्वारा उत्पन्न शब्द के लघु प्रत्यक्षों में भेद नहीं कर सकते किंतु फिर भी ये हर पृथक शब्द संवेदन में रहते हैं। जिस तरह मोनडों में प्रत्यक्ष की स्पष्टता के अंश होते हैं उसी तरह मोनडों में आपसी भेद अपने प्रत्यक्षों की स्पष्टता से होता है। निम्नतर स्तर के मोनडों में हरेक चीज अस्पष्ट और अस्तव्यस्त होती है जिसकी अवस्था नींद के समान होती है; इस तरह का सुषुप्त जीवन हमें पौधों में मिलता है। जानवरों में प्रत्यक्ष स्मृति (चेतनता) के साथ होता है; मनुष्यों में चेतनता और भी स्पष्ट होती है इसलिए उसे आत्मज्ञान (apperception) या आन्तरिक अवस्था का विमर्शात्मक (reflective) ज्ञान होने से आत्मचेतनता (self-consciousness) कहा जाता है।

हरेक मोनड में प्रत्यक्ष या उपक्षेप (representation) की शक्ति होती है; वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष, अभिव्यक्ति और उपक्षेप करता है। इस अर्थ में वह स्वयं एक सूक्ष्मरूपेण विश्व है; वह "विश्व का जीवित दर्पण" या समाहारित जगत है; वह अपने लिए जगत है। किंतु हरेक मोनड विश्व को अपने तौर पर, अपने दृष्टिकोण से, स्पष्टता के विभिन्न अंशों से उपक्षिप्त करता है। मोनड सीमित होता है, वह अलग-अलग होता है और उसके बाहर उससे अलग अन्य मोनड भी होते हैं। मोनड जितनी ऊँची श्रेणी का होगा वह जगत के अपने भाग को उतनी ही स्पष्ट प्रत्यक्ष, अभिव्यक्ति या उपक्षिप्त करेगा। वह अपने अधिक समीप के मोनडों या अपने शरीर को सबसे अधिक स्पष्टता से उपक्षिप्त करता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि "विश्व में होनेवाली हर घटना की अनुभूति हरेक को होती है; जो सब कुछ देखता है वह हरेक विशिष्ट वस्तु में हर जगह होनेवाली चीज को देख सकता है। वह वर्तमान में, प्रसर (space) और काल में उन दूरस्थ चीजों को भी देख सकता है जो हुई हैं और होंगी।"

मोनड निम्नतर से लेकर उच्चतर तक सोपानवत् एक क्रमवर्धमान श्रृंखला बनाते हैं। विश्व स्पष्टता के उच्चगामी सोपानवत् असीम संख्यक मोनडों से निर्मित है; दो मोनड कभी समान नहीं होते, यदि ऐसा होता तो उनमें कोई भेद नहीं किया जा सकता (अगोचरता, Indiscernibles, का सिद्धान्त)। प्रकृति में विच्छेद नहीं है, निम्नतर से उच्चतर के बीच विच्छेद नहीं है। जड़ पुद्गल से ईश्वर तक असीम भेदों की एक निरन्तर रेखा है। विश्व में कुछ भी

जड़, रिक्त या निष्फल नहीं हैं। ईश्वर सबसे बड़ा और पूर्ण मोनड है, वह शुद्ध सक्रियता है, मौलिक मोनड है, मोनडों का मोनड है। अविच्छिन्नता (continuity) का सिद्धान्त ऐसे सर्वोपरि मोनड की अपेक्षा रखता है।

स्पिनोजा ने एक सार्वभौम द्रव्य माना था, लाइबनित्स द्रव्यों को असीम संख्यक मानता है। देकार्त ने द्रव्यों की अनेकता मानी थी किंतु उसके द्रव्य एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे (मनस् और पुद्गल), किंतु लाइबनित्स के ओज (forces) प्रधानतः समान ही हैं। परमाणुवादियों के अनुसार यद्यपि अनेक सामञ्जस्यपूर्ण वास्तविकताएँ हैं किंतु वे भौतिक हैं, पर लाइबनित्स उनको आध्यात्मिक (spiritual) मानता है। प्लेटो के पूर्वरूपों (Ideas) की भाँति लाइबनित्सीय सिद्धान्त शाश्वत उद्देश्य हैं, किंतु वे वस्तुओं में हैं जैसा कि अरस्तू का कहना था। मोनड "इन्टेलेकी" (entelechies) हैं। "मुझे समझने के लिए," लाइबनित्स का कहना है, "तुम्हें डिमाक्रीटस, प्लेटो और अरस्तू को समझ लेना चाहिए।" अपनी जवानी में लाइबनित्स यह मानता था कि विशिष्ट वस्तुएँ ही वास्तविक होती हैं और अवयवों का वास्तविक आधार विशिष्ट वस्तुओं में ही होता है और उनसे अलग, सिवा ईश्वर के मनस् में, अवयवी की सत्ता नहीं हो सकती। लाइबनित्स ने इस व्यक्तिवादी और अनेकतावादी धारणा को कभी नहीं छोड़ा; हाँ उसने सारे विश्व को असीम संख्यक अलग-अलग सत्ताओं में तोड़ दिया और उनमें से हरेक को आध्यात्मिक अस्तित्व बना दिया।

हरेक मोनड विकास क्रम में है और अपनी आन्तरिक आवश्यकता से अपनी प्रकृति का साक्षात् करता है। वह बाहर से नियंत्रित नहीं होता, उसमें गवाक्ष नहीं होते जिसके द्वारा उसमें कोई चीज घुस सके; वह जो कुछ भी होने वाला होता है वह उसमें निहित रहती है। अविच्छिन्नता (Continuity) के सिद्धान्त का यह आवश्यक परिणाम है कि मोनड में वह चीज नहीं हो सकती जो उसमें सदा से न रही हो और उसमें वह चीज कभी नहीं आ सकती जो उसमें नहीं है। मोनड विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है जिससे उसकी पूर्वनिर्मित चीजों का प्रादुर्भाव होता रहता है। आदत के वीर्य और ईव के गर्भ में सारी मानव जाति पूर्वनिर्मित थी। जिस व्यक्ति का आज विकास हो चुका है वह कल बीज रूप में पूर्व-निर्मित था। मोनड की कोई चीज नहीं खोती, बाद की अवस्थाओं में सब कुछ बना रहता है और भविष्य की अवस्थाएं पहले की अवस्थाओं से पूर्वनिर्धारित रहती हैं। अतएव हरेक मोनड में अतीत और भविष्य रहता है। पूर्वनिर्माण (preformation) का यह सिद्धान्त (the incasement theory) लाइब-

नित्स के समकालीन जीववैज्ञानिकों (लायवेनहोक और स्वामरडाम) में प्रचलित था। सन् १७५९ में कैस्टर एफ० वोल्फ द्वारा प्रतिपादित भूमितलनिर्मित (epigenesis), जिसके अनुसार मौलिक सजातीय कीटाणु से अवयवों का क्रमवर्धक निर्माण और भेदोकरण होता है) सिद्धान्त से पूर्वनिर्माणसिद्धान्त का विरोध किय गया था; किंतु १८५९ तक डारविन को "आरिजन आव् स्पीसीज" पुस्तक के प्रकाशन के बाद ही भूमितलनिर्मित (epigenesis) सिद्धान्त सर्वमान्य हो सका।

जड़ और चेतन वस्तुओं का भेद इस तरह बताया गया है : दोनों मोनड या ओज (force) के केन्द्र से निर्मित होते हैं किंतु चेतन वस्तुओं में एक मोनड, प्रधान मोनड, आत्मा होती है जा सारी वस्तु को या तो उपक्षिप्त करती है या पहले से ही उसका चित्र रखती है और यह आस पास के मोनडों के निर्देशन करने का सिद्धान्त होता है। जड़ वस्तुएँ इस तरह केन्द्रित नहीं होतीं किंतु वे केवल मोनडों की राशि से निर्मित होती हैं। वस्तुएँ जितने उच्च स्तर की होंगी वे उतनी ही व्यवस्थित होंगी। उच्चतम आवयविकता (organism) में मोनडों का सुसंगठित मेल होता है।

यह मनस् और शरीर के सम्बन्ध की समस्या की ओर इशारा करता है। केन्द्रीय मोनड अपने शरीर को कैसे प्रभावित करता है? हम उनमें अन्तर्क्रिया मान सकते हैं किंतु लाइबनित्स ने हमें पहले ही बता दिया है कि मोनडों में गवाक्ष नहीं होते और उन पर कोई वाह्य प्रभाव या क्रिया नहीं हो सकती। ईश्वर ने मनस् और शरीर को बनाकर घड़ीसाज की भाँति उन्हें इस तरह नियमित कर दिया है जिससे एक की क्रिया के समय दूसरे में भी वैसा ही संयोग होता है। यह संयोगवादी (occasionalistic) सिद्धान्त भी अस्वीकृत कर दिया गया है। लाइबनित्स की व्याख्या यह है कि ईश्वर ने मनस् और शरीर को इस तरह बनाया है कि दोनों म आदि से ही सहचार है; आत्मा और शरीर का सम्बन्ध ईश्वरकृत पूर्वस्थापित सामञ्जस्य (preestablished harmony) है। कारणात्मक अन्तर्क्रिया को मानना व्यर्थ है। मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं में सहचार है, वे सहवर्ती (concomitant) हैं : इस अर्थ में शरीर आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शरीर भी असंख्यक मोनडों से निर्मित है जिसमें से हरेक आवयविक है और अपनी प्रकृति के पूर्वनियोजित नियमों के अनुसार क्रिया करता है। "आत्माएँ लक्ष्यात्मक कारणों (final causes) के अनुसार, इच्छा, उद्देश्य, साधनों द्वारा क्रिया करती हैं। वस्तुएँ निमित्त कारणों (efficient causes) या गति के नियमों के अनुसार क्रिया करती हैं और दोनों एक दूसरे से

सामञ्जस्य रखती हैं।" दूसरे शब्दों में आवयविक पदार्थ और उसके सूक्ष्मतर खण्ड ईश्वर द्वारा पूर्वनिर्मित होते हैं; वे "दैवी मशीनें" होते हैं।

इस विचार को सारे विश्व पर लागू किया गया है। सब मोनड किसी आवयविकता के भागों के समान एक साथ क्रिया करते हैं जिसमें हरेक का अपना अलग काम होता है। प्रत्येक वस्तु कारण से सम्बन्धित है किंतु कारण का अर्थ सहवर्ती परिवर्तन और ईश्वर द्वारा खण्डों के पूर्वनिर्धारित सामञ्जस्य-पूर्ण क्रिया के अलावा और कुछ नहीं है। ईश्वर ने विश्व को इस भाँति व्यवस्थित कर दिया है कि उसके हस्तक्षेप के बिना विश्व का संचालन होता रहता है। हरेक मोनड की हरेक अवस्था उसमें पहले की अवस्था से अनुसरित होती है और अन्य सब मोनडों की अवस्थाओं से मिलकर क्रिया करती है। विश्व में पूर्ण सामञ्जस्य है। प्रकृति की हर चीज की यंत्रवत् व्याख्या इस अर्थ में की जा सकती है कि भौतिक क्षेत्र में नियम, व्यवस्था और समानता है। किंतु सम्पूर्ण की योजना एक उच्चतर बुद्धि की ओर संकेत करती है: ईश्वर सब घटनाओं का परम् कारण है। लाइबनित्सीय दर्शन का आदर्श वाक्य है कि "यंत्रविद्या का उद्‌गम तत्वसमीक्षा से है।"

हम प्रकृति और गति के नियमों की अनिवार्यता का प्रदर्शन नहीं कर सकते; वे तर्कशास्त्र, गणित और ज्यामित के नियमों की भाँति अनिवार्य नहीं हैं। उनकी सत्ता उनकी उपयोगिता पर निर्भर करती है और इसका आधार ईश्वर का ज्ञान है। ईश्वर ने उनको अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए चुना है; अतएव जगत की सत्ता ईश्वर के मनस् में उद्देश्य होने से है: ईश्वर लक्ष्यात्मक कारण (final cause) है जो निमित्त कारणों को बतौर अपने साधनों के इस्तेमाल करता है।

यहाँ हमें वादा किया गया यंत्रवाद और प्रयोजनवाद (teleology) का समन्वय मिलता है। हम उद्देश्य की धारणा के बिना प्रकृति की व्याख्या कर सकते हैं, किंतु यंत्रवादी दर्शन हमें ईश्वर तक ले जाता है क्योंकि हम दैवी उद्देश्य के बिना भौतिक विज्ञान और यंत्रविद्या के सार्वभौम सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं कर सकते। इस तरह बुद्धि और धर्म में सामञ्जस्य किया गया है। प्रकृति के भौतिक क्षेत्र और प्रसाद (grace) के नैतिक क्षेत्र तथा सब बुद्धि-परक आत्माओं और ईश्वर में भी एक सामञ्जस्य है। आत्माएँ ईश्वर की नकल हैं, मनुष्य की बुद्धि ईश्वर की बुद्धि की ही भाँति है, भेद है केवल अंशों का। मनुष्य का उद्देश्य भी ईश्वर के उद्देश्य से समता रखता है। अतएव आत्माओं का सामञ्जस्य नाम की चीज है। यह भौतिक क्षेत्र के विपरीत नैतिक क्षेत्र है, लाइबनित्स ने इसे प्रसाद का क्षेत्र कहा है। किंतु विश्व की

मशीन बनानेवाले ईश्वर और दैवी आध्यात्मिक राज्य के एकछत्र सम्राट् (ईश्वर) दोनों में सामञ्जस्य है।

ईश्वरवाद (Theology)

अब हम लाइबनित्स के ईश्वरवाद की ओर आते हैं। ईश्वर सर्वोपरि है वह मोनडों का मोनड है। उसकी सत्ता कई तरह से प्रमाणित की जाती है। अविच्छिन्नता (continuity) का सिद्धान्त ओजों (forces) की माला के अन्त में एक सर्वोपरि मोनड की अपेक्षा रखता है। पर्याप्त हेतु (sufficient reason) के सिद्धान्त के अनुसार स्वयं मोनडों की व्याख्या करने के लिए एक कारण की आवश्यकता है (कारणात्मक या कार्यकारणमूलक, cosmological. युक्ति)। अन्त में प्रकृति की व्यवस्था और सामञ्जस्य किसी कर्त्ता की अपेक्षा रखता है (physico-theological, भौतिक-ईश्वरवादी युक्ति)। जगत का कारण जगत से बाहर होना चाहिए; चूंकि विश्व एक है इसलिए कारण को भी एक होना चाहिए; चूंकि विश्व में व्यवस्था है इसलिए कारण को बुद्धि परक होना चाहिए। एक और प्रमाण है जिसे प्रामाण्यवादी (epistemological) प्रमाण कहा जा सकता है। तर्कशास्त्र और ज्यामिति के सत्य शाश्वत और अनिवार्य हैं जिनकी सत्ता के लिए किसी शाश्वत बुद्धि की अपेक्षा है।

ईश्वर मोनड के रूप में व्यक्ति (individual) है। किंतु वह सब मोनडों से परे है, वह प्रकृति और बुद्धि से परे सबसे अधिक पूर्ण और वास्तविक सत्ता है। मनुष्य ईश्वर का बिलकुल स्पष्ट प्रत्यय नहीं बना सकता क्योंकि ईश्वर सबसे बड़ा मोनड है और मनुष्य सीमित है। पूर्ण मनस् को एक पूर्ण मनस् ही समझ सकता है। मनुष्य में जो गुण हैं वह आंशिक रूप से सब मोनडों में हैं, मनुष्य ईश्वर में सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता और पूर्ण सत् का आरोप करता है। हम इस तरह ईश्वर की धारणा बनाते हैं : वह बुद्धि से परे है किंतु बुद्धि के विपरीत नहीं है। मनुष्य को ईश्वर के अस्पष्ट प्रत्यय भी होते हैं, उसमें ईश्वर प्राप्ति की एक लालसा होती है। ईश्वर को हम विभिन्न अंशों की

अपने तात्त्विक वादविवादों में लाइबनित्स मोनड की परिभाषा देते हुए उसे शाश्वत द्रव्य कहता है जिसका नाश किसी चमत्कार से ही हो सकता है। अपने ईश्वरवाद में वह यह कहता है कि ईश्वर ने मोनडों का निर्माण किया है और वही उन्हें नष्ट कर सकता है। कभी वह मोनडों को ईश्वर की अभिव्यक्ति कहता है, यह धारणा सर्वेश्वरवाद (pantheism) के अत्यन्त निकट है।

स्पष्टता से जानते हैं, अतएव उनसे संवादिता रखनेवाले धर्म के अनेक स्तर हैं।

पूर्ण होने से ईश्वर में अन्य मोनडों की भाँति परिवर्तन या विकास नहीं होता। वह अपने आप में पूर्ण है और उसका ज्ञान भी पूर्ण है। वह एक ही दृष्टि में हर वस्तु को पूरी तरह से देखता है। वह वास्तविकता प्राप्त वास्तविकता है। उसने जगत का निर्माण एक योजना के साथ किया है और इस जगत को उसने अनेक संभव जगतों में सबसे अच्छा चुना है। उसका यह चुनाव सत् सिद्धान्त या नैतिक आवश्यकता से निर्धारित होने से अनाधारित नहीं है। वह तार्किक आवश्यकता से भी निर्धारित है, मनुष्य की भाँति चिंतन के मूलभूत नियम उस पर भी लागू होते हैं।

किंतु इस सिद्धान्त को मानने से हम पाप की व्याख्या कैसे कर सकते हैं? अनेक संभव जगतों में सबसे अच्छा होने से इस जगत में एक साथ विभिन्नता और सामञ्जस्य की सबसे अधिक संभावना है। जगत पूर्ण नहीं है, उसमें दोष भी हैं; ईश्वर ससीम रूपों में बिना बाधा और सीमाओं के अपनी प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। ये सीमाएँ ही तात्विक पाप (metaphysical evils) हैं; वे दुख, भौतिक पाप (कष्ट) और नैतिक पाप का कारण हैं। पाप सत् और सौंदर्य का दोष है; चित्र के काले रंगों की भाँति पाप सत् को प्रकट करने में सहायता देता है; वह हमें सत् कर्मों की ओर प्रेरित करता है। यह युक्तियाँ स्टोइकों (stoics) और नव्य-प्लेटोवाद (neoplatonism) तक जाती हैं और ये मध्य युग के ईसाई ईश्वरवाद में खूब प्रचलित रही थीं

आचारशास्त्र (Ethics)

आचार शास्त्र एक बौद्धिक विज्ञान है। आत्मा में कुछ ऐसे जन्मजात नैतिक सिद्धान्त होते हैं जिनका प्रदर्शन नहीं हो सकता किंतु जिनसे अन्य नैतिक सत्य अनिवार्यतः अनुसरित होते हैं। वे हममें अचेतन रूप से, स्वभाव की भाँति, कर्म करते रहते हैं, किन्तु हमें उनका बोध हो सकता है। हमें सुख खोजना और दुख का निवारण करना चाहिए, यह आन्तरिक अनुभव या सुख की स्वाभाविक इच्छा और भ्रान्त ज्ञान पर आधारित है। इस सिद्धान्त से अन्य ऐसे स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों का निगमन किया जा सकता है जिनको लुटेरे भी अपना एका बनाए रखने के लिए मानने पर बाध्य होंगे।

नैतिक स्वभाव बिना आगा पीछा के मनुष्यों का निर्देशन करता है किंतु पापमय आदतों से नैतिक स्वभाव भ्रष्ट भी हो सकता है। न्याय का सिद्धान्त जंगली मनुष्यों में भी पाया जाता है और वह उनकी प्रकृति का अंग भी होता है। यद्यपि परम्परा, आदत और शिक्षाओं से आत्मा की इन प्रवृत्तियों

का विकास होता है किंतु वे मानवी प्रकृति में पहले से ही होती हैं।

यह ठीक है कि मनुष्य सदा नैतिकता के जन्मजात सिद्धान्तों को नहीं मानते किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे उनसे अनभिज्ञ होते हैं। नैतिकता के किसी सिद्धान्त का न माना जाना और सर्वसाधारण द्वारा उसका खण्डन होना उस सिद्धान्त के जन्मजात होने के विरोध की युक्ति नहीं है; वह उससे अनभिज्ञ होने की ही युक्ति है। यह नियम सदा स्पष्ट नहीं होते अतएव ज्यामिति को प्रस्तावनाओं के प्रदर्शन की भाँति उनका प्रमाण देने की आवश्यकता होती है। उनको जानने के लिए ध्यान और विधि जरूरी हैं और हो सकता है कि विद्वानों को भी उनका पूर्ण बोध न हो।

जैसा कि हमने देखा है मानसिक जीवन प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति (conation) है। प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति का मेल इच्छा कहलाता है। संकल्प स्पष्ट प्रत्यय द्वारा निर्देशित चेतन इच्छा है। अतएव संकल्प तटस्थ या मनमौज नहीं हो सकता, वह सदा किसी न किसी प्रत्यय से निर्धारित रहता है। मनुष्य इस अर्थ में स्वतंत्र है कि वह बाहर से निर्धारित नहीं है—मोनड में गवाक्ष नहीं होते जिससे कोई चीज घुसकर उसे बाध्य करे—उसका निर्धारण आन्तरिक होता होता है। वह अपनी प्रकृति, अपनी इच्छाओं और प्रत्ययों से अनुशासित होता है। चुनाव सबसे बलवान इच्छा का हामी होता है। एक काम से दूसरे काम का निर्णय करने की स्वतंत्रता की इच्छा करना मूर्ख होने की इच्छा करना है।

तर्क शास्त्र और ज्ञान-विषयक धारणा

लाइबनित्स की ज्ञान विषयक धारणा उसकी तात्विक मान्यताओं पर आधारित है। वह ज्ञान के बुद्धिवादी आदर्श को मानता है; ज्ञान सार्वभौम और आवश्यक है और वह ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित है जो अनुभव से प्राप्त नहीं होते। विश्व एक गणितात्मक-तार्किक व्यवस्था है जिसको बुद्धि ही समझ सकती है। चूंकि आत्म-मोनड (soul-monad) एक स्वतंत्र सत्ता है जिस पर किसी वाह्य कारण का प्रभाव नहीं पड़ सकता इसलिए ज्ञान बाहर से नहीं आ सकता, ज्ञान को आत्मा में ही उत्पन्न होना चाहिए। अतएव आत्मा कोरी तख्ती नहीं हो सकती जिस पर वाह्य प्रकृति अपना मुद्रण करती है, जैसा कि लॉक मानता था। हमारा सारा ज्ञान मनस् में निहित है : संवेदन और समझ दोनों ही। अनुभव ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता वरन् ज्ञान अनुभव से प्रकट और स्पष्ट होता है। बुद्धि में ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जो पहले संवेदन में न रही हो; ठीक है—किन्तु लाइबनत्सि कहता है कि बुद्धि तो होगी। किंतु यदि हम मोनडवाद को न मानें तो भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि ज्ञान

इन्द्रियों मात्र से नहीं आता। यदि ऐसा होता तो सार्वभौम ज्ञान असम्भव होता क्योंकि अनुभववादी सत्यों में अनिवार्यता नहीं होती, वे आपातिक प्रस्तावनाएँ (accidental propositions) ही होते हैं : हम यह नहीं कह सकते कि चूंकि कोई घटना हुई है इसलिए उसे सदा वैसे ही होना चाहिए। सार्वभौम और अनिवार्य प्रस्तावनाएँ इन्द्रियजन्य नहीं हो सकतीं, उनका मूल मनस में ही होना चाहिए।

लाक ने यह युक्ति दी थी कि ऐसा जन्मजात या प्रागनुभव ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि हमें सदा उसका बोध नहीं होता। मनस् को किसी चीज का बोध हुए बिना यदि वह मनस में जन्मजात न होती तो लाक का कहना ठीक होता। देकार्त ने मानसिक जीवन का चेतनता से जो तादात्म्य किया है यदि वह सही हो तो अनुभववादियों की युक्ति ठीक है। मनस अपने प्रत्ययों का सदा चेतन नहीं होता : हमें बोध हुए बिना भी मनस् में प्रत्यय और सिद्धान्त रह सकते हैं। यदि यह भी दिखाया जा सके कि सत्य संवेदनों से प्राप्त होते हैं तो लाकीय दृष्टिकोण के इस सुधार से भी हमारा काम नहीं बनेगा। किंतु यह नहीं दिखाया जा सकता। अनुभव या आगमन (induction) से प्राप्त प्रस्तावनाओं में सार्वभौमता और अनिवार्यता नहीं होती, उनसे निश्चित ज्ञान नहीं मिलता : कोई घटना कितनी बार क्यों न हो किंतु इससे यह साबित नहीं होता कि वह घटना सदा और अनिवार्यतः होगी। हमें इन्द्रियों पर निर्भर या उनकी अपेक्षा न करनेवाला ज्ञान है : गणित के सत्य सार्वभौम और अनिवार्य प्रस्तावनाएँ हैं। यह स्पष्ट है कि मनस् अपनी ओर से कुछ ऐसा योग देता है जिसे इन्द्रियाँ नहीं दे सकतीं। तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, ईश्वरवाद और न्यायशास्त्र (jurisprudence) ऐसी प्रस्तावनाओं से भरे हैं जिनके सिद्धान्तों का मूल मनस् के अलावा और कहीं नहीं हो सकता। यह ठीक है कि इन्द्रियानुभव के बिना हमें उन सिद्धान्तों का बोध नहीं हो सकता; हमारी इन्द्रियाँ उन सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष करने का संयोग हैं किंतु वे उन्हें उत्पन्न नहीं करतीं। उन सिद्धान्तों के बिना विज्ञान नहीं हो सकता। "अनिवार्य सत्यों का अन्तिम प्रमाण समझ से ही प्राप्त होता है, अनुभव या इन्द्रियों से अन्य सत्य मिलते हैं। हमारे मनस् को इन दोनों का ज्ञान होता है किंतु अनिवार्य सत्यों का मूल मनस् ही है। हमें किसी सार्वभौम सत्य के कितने ही अनुभव क्यों न हों किंतु आगमन (induction) से हम उसके बारे में पूर्ण निश्चित नहीं हो सकते; हम उसकी अनिवार्यता बुद्धि से ही जान सकते हैं।" "इन्द्रियाँ ऐसे सत्यों की परीक्षा कर सकती हैं, उन्हें न्यायसंगत बना सकती हैं किंतु उनकी शाश्वत और अनिवार्य निश्चितता का प्रदर्शन नहीं कर सकतीं।"

ये जन्मजात सत्य आत्मा में चेतन नहीं होते : "हम किसी पुस्तक की

भाँति बुद्धि के शाश्वत नियमों को पढ़ नहीं सकते, किंतु जब इन्द्रियाँ हमें संयोग दें तो हम उन्हें अपने अन्दर खोज सकते हैं।" प्रत्यय और सत्य प्रवृत्तियों और प्राकृतिक शक्तियों की भाँति जन्मजात होते हैं, क्रियाओं की तरह नहीं होते; "यद्यपि ये शक्तियाँ अपने प्रत्युत्तर देनेवाली, प्रायः अदृश्य, शक्तियों से अनुगामित होती हैं।" इस अर्थ में गणित और ज्यामिति हमारे अन्दर ही हैं, हम बिना किसी अनुभव के उनको खोज सकते हैं। ऐसे सत्यों का अपने प्रत्ययों, जिससे वे निर्मित होते हैं, के बाद पता चलता है (लाक) और यह बात कि हम पहले संकेत, फिर प्रत्यय और फिर सत्य को जानते हैं उनकी मौलिकता के विरुद्ध कुछ भी साबित नहीं करती। सामान्य सिद्धान्त--जैसे तादात्म्य सिद्धान्त-हमारे चिंतन की जान है; मनस् हर क्षण उन्हीं पर निर्भर करता है, चाहे उनको जानने के लिए कितना ही ध्यान क्यों न देना पड़े। हम अपने वाद-विवाद में तर्कशास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ रहते हुए भी उनका उपयोग करते हैं। हमने देखा है कि आचार शास्त्र के क्षेत्र में भी ऐसे जन्मजात सिद्धान्त होते हैं।

प्रत्ययों को ग्रहण करनेवाले किसी कोरे अधिकरण (faculty) की धारणा मिथ्या है। शास्त्रीयतावादियों (schoolmen) की शुद्ध अधिकरणों या शक्तियों की धारणा भी निरर्थक या अमूर्त है। हम किसी निष्क्रिय अधिकरण को कहीं नहीं पाते; आत्मा सदा किसी न किसी ढंग से काम करने की अभ्यस्त होती हैं, उसमें निश्चित प्रवृत्तियाँ होती हैं। आत्मा को जागरूक करने के लिए अनुभव आवश्यक है, किंतु वह प्रत्ययों को उत्पन्न नहीं कर सकता। आत्मा मोम की भाँति नहीं है जिस पर हरेक चीज मुद्रित हो जाय; ऐसा मानने वाले आत्मा को भौतिक तत्व बना देते हैं। अनुभववादी यह आपत्ति करते हैं कि बुद्धि में वह कोई चीज नहीं हो सकती जो पहले संवेदन में न रही हो। यहाँ तक तो वे ठीक हैं, किंतु वे भूल जाते हैं कि बुद्धि तो पहले भी रहती है। आत्मा में सत्ता, द्रव्य, एकता, तादात्म्य, कारण, प्रत्यक्ष, तर्क और परिमाण की धारणा होती है जो इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकती।

अपनी इन शिक्षाओं में लाइबनित्स ने प्रागनुभववाद (a priorism) और अनुभववाद का समन्वय करने का प्रयत्न किया है जिसे बाद में कांट ने बड़े पैमाने पर लिया था। प्रसर (space) को मनस् का रूप (form) मानने में लाइबनित्स बहुत अंश तक कांट की पूर्वदृष्ट कर लेता है। अविभाज्य मोनड की क्रिया होने से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और बुद्धि समान होते हैं किंतु उनमें अंशों का भेद होता है। संवेदन अस्पष्ट और अस्तव्यस्त प्रत्यय होते हैं किंतु समझ के विषय स्पष्ट होते हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुओं को उनकी सच्ची वास्तविकता में, उनको सक्रिय आध्यात्मिक द्रव्य या मोनड के रूप में न जानकर अस्पष्टतावश प्रसरिक (spatial) और दृष्टि-विषयक (phenome-

nal) समझता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मोनडों की सहवर्त्तिता को, बुद्धि के लिए आध्यात्मिक द्रव्यों की एक सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था को, प्रपंचित दृष्टिविषयक जगत समझता है। प्रत्यक्ष करनेवाला विषयी (subject) आध्यात्मिक को प्रसरिक (spatial) समझता है। लाइबनित्स का कहना है कि हमारे "प्रसर (space), आकृति, गति, ध्रुवता के प्रत्ययों का मूल शुद्ध समझ के प्रत्यय होने के नाते मनस् में ही होता है और उनका प्रसंग वाह्य जगत से होता है।" इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रसर (space) का प्रत्यय मनस् में जन्मजात है, जैसा बाद में कांट ने बताया था। जैसा कि हमने देखा है प्रसर हमारे अन्दर मोनडों की सहवर्त्तिता से जाग्रत प्रत्यय मात्र या वस्तुओं को देखने का दृष्टिकोण मात्र नहीं है; मोनडों की सहवर्त्तिता से एक विषयता प्राप्त भौतिक जगत फलित होता है। किंतु प्रसर सत् (real) नहीं है; वह ओज (force) को, जो वास्तविक पदार्थ है, अभिव्यक्ति या प्रकट होना है।

बौद्धिक ज्ञान जन्मजात सिद्धान्तों द्वारा ही संभव है जिन पर हमारा सही चिंतन निर्भर है। इन सिद्धान्तों में से विचारक्षेत्र में सत्य की कसौटी तादात्म्य और बाध (contradiction) का सिद्धान्त और अनुभव के क्षेत्र में पर्याप्त हेतु (sufficient reason) का सिद्धान्त है। लाइबनित्स के लिए पर्याप्त हेतु (sufficient reason) का सिद्धान्त केवल तार्किक अर्थ ही नहीं रखता—हरेक निर्णय का उसके सत्य को साबित करनेवाला आधार होना चाहिए—वह तात्विक सिद्धान्त भी है,—हरेक वस्तु की सत्ता का पर्याप्त हेतु (sufficient reason) होना चाहिए।—उसमें तार्किक और वास्तविक आधार (ratio cognoscendi and ratio essendi) निहित रहता है। इस पर भौतिक विज्ञान, आचारशास्त्र, तत्वसमीक्षा और ईश्वरवाद आधारित हैं: "इसको माने बिना ईश्वर की सत्ता और अनेक दार्शनिक धारणाओं का प्रमाण छिन्न-भिन्न हो जाता है।" विश्व एक बौद्धिक व्यवस्था है जिसमें बिना पर्याप्त आधार के कुछ भी नहीं होता; उसकी धारणा एक तार्किक व्यवस्था के साधर्म्य (analogy) से की गई है जिसमें सब प्रस्तावनाएँ बौद्धिक रूप से सम्बन्धित रहती हैं। दर्शन की समस्या ज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों की खोज करना है जो वास्तविकता के मूलभूत सिद्धान्त मान्यताएँ भी हों। विश्व में वही अनिवार्यता है जो एक तार्किक व्यवस्था में होती है। लाइबनित्स का तर्कशास्त्र उसकी तत्वसमीक्षा को प्रभावित करता है। किंतु उसकी तत्वसमीक्षा उसके तर्कशास्त्र को भी प्रभावित करती है: जैसा कि हम देख चुके हैं उसकी ज्ञान की धारणा, जिसमें मनस् में निहित सिद्धान्तों का विकास होता है, उसके आध्यात्मवादी मोनडवाद पर आधारित है। उसका व्यक्तिवाद (individualism) उसकी विश्व की तार्किक धारणा का अनिवार्य परिणाम नहीं है; तर्क से स्वतंत्र व्यक्तियों

(individuals) को सत्ता को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। लाइबनित्स व्यक्तियों को सत्ता की प्रयोजनवादो (teleological) व्याख्या करता है; व्यक्ति दैवी सृजनात्मक संकल्प का ध्येय है इसलिए उसे आदि से ही जगत-आधार में होना चाहिए। यहाँ विश्व के तार्किक आधार में मानवी महत्ता को माना गया है।

स्पष्ट ज्ञान के अलावा अस्पष्ट ज्ञान भी होता है। सामञ्जस्य और सौंदर्य सम्बन्धों के निश्चित अनुपात पर निर्भर हैं। विद्वान् उनको जान सकते हैं किंतु उनका जानना आवश्यक नहीं है, वे अपने को सौंदर्य की अनुभूति के उपभोग में अभिव्यक्त करते हैं जो मनुष्य में सामञ्जस्य या रूप का अस्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। इसी तरह आत्मा भी वस्तुओं की व्यवस्था, विश्व के सामञ्जस्य का प्रत्यक्ष उसके स्पष्ट ज्ञान के बिना भी करती है। यहाँ आत्मा को ईश्वर की अस्पष्ट अनुभूति होती है। यह ज्ञान भी अस्पष्ट है जो स्पष्ट हो सकता है।

--:o:--

१३

लाइबनित्स के उत्तराधिकारी

(Successors of Leibnitz)

सामान्य बुद्धि-दर्शन (Philosophy of Common Sense)

रीड के स्काटीय सम्प्रदाय के समान सामान्य-बुद्धि (common-sense) दर्शन से जर्मनी में भी लाइबनित्सीय दर्शन का अनुसरण किया गया। एक तात्विक व्यवस्था बनाने का प्रयत्न करनेवाला लाइबनित्स आधुनिक काल का पहला महान् जर्मन विचारक है। किंतु उसकी लगभग सारी रचनाएँ विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित लेटिन या फ्रेंच में लिखे गए पत्रों या लेखों के रूप में है। हाल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर क्रिश्चियन वोल्फ (१६७९-१७५४) ने लाइबनित्स की शिक्षाओं को सामान्य-बुद्धि-दर्शन के अनुरूप बनाकर उन्हें व्यवस्थित कर जर्मन भाषा में प्रस्तुत किया। वोल्फ देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्स के बुद्धिवाद को मानता है और दर्शन की प्रणाली को गणित की प्रणाली के समान मानता है। साथ-साथ वह यह भी मानता है कि अनुभव के तथ्यों और बुद्धि के निगमनों में सहमति होती है : बुद्धि और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष दोनों ही ज्ञान के औरस अधिकरण हैं। वह देकार्त के मनस् और पुद्गल के द्वैत को मानता है, किंतु ओज (force) को पदार्थ का मुख्य विशेषण मानता है और आत्मा और शरीर की अन्तर्क्रिया की व्याख्या पूर्वस्थापित सामञ्जस्य (लाइबनित्स) से करता है। वह स्पिनोजा की भाँति विश्व में अन्तर्संबंधित कारण-व्यवस्था मानता है किंतु लाइबनित्स की प्रयोजनवादी (teleogical) व्याख्या को भी स्वीकार करता है। इस तरह वह अपनी व्यवस्था में विकास की धारणा को स्थान देता है।

आत्मा के दो अधिकरणों---प्रत्यक्ष और प्रवृति---के अनुसार वोल्फ विज्ञानों को दो भागों---सैद्धान्तिक और व्यावहारिक---में विभाजित करता है; पहले के अन्तर्गत वह तत्व समीक्षा (ontology), सृष्टि-शास्त्र (cosmology), मनोविज्ञान और ईश्वरवाद (जो सब तत्वसमीक्षा के विषय हैं) को लेता है; दूसरे के अन्तर्गत वह आचारशास्त्र, राजनीति और अर्थशास्त्र को रखता है।

बुद्धि और अनुभव पर आधारित प्रस्तावनाओं के अनुसार विज्ञानों का बुद्धिवादी और अनुभववादी विभाजन भी किया गया है (बौद्धिक और अनुभववादी भौतिक विज्ञान; बौद्धिक मनोविज्ञान और अनुभववादी मनोविज्ञान इत्यादि)। तर्क शास्त्र सब विज्ञानों का परिचय है।

वोल्फ ने इन सब विषयों पर जर्मन और लैटिन भाषा में पुस्तकें लिखीं जो अनेक वर्षों तक जर्मनी के विश्वविद्यालयों में व्यवहृत रहीं और वोल्फ ने आज के प्रचलित अनेक दार्शनिक शब्दों को गढ़ा। यद्यपि वोल्फ में मौलिकता नहीं थी और उसने लाइबनित्सीय दर्शन को निर्बल बनाया तो भी उसने जर्मनी में दर्शन के अध्ययन की रुचि को बढ़ाया और प्रबुद्धकाल (Enlightenment) में अपना योग दिया।

लाइबनित्स-वोल्फीय सम्प्रदाय के अनुयायियों में बिलफिंगर (१६९३-१७५०), जर्मन सौंदर्य शास्त्र का जन्मदाता ए० बाउमगार्टन (१७१४-१७६२) और अपने प्रारम्भिक काल में कांट थे। वोल्फीय दर्शन एक उद्धारक (eclectic) आन्दोलन में विकसित हुआ जिसने अनुभववाद और बुद्धिवाद का समन्वय करने का प्रयत्न कर कांट के "क्रीटीक ऑव् प्योर रीजन" का रास्ता खोल दिया।

रहस्यवाद (Mysticism)

लाइबनित्स और वोल्फ के रहस्यवाद ने सब विचारकों को सन्तुष्ट नहीं किया; कुछ बुद्धि को सत्य तक पहुँच सकने को न मानते हुए भी अनुभववादियों या सन्देहवादियों का साथ नहीं देना चाहते थे। इन रहस्यवादी लोगों ने निश्चितता को आन्तरिक अनुभव, अनुभूति और स्वभाव में पाया। सबसे बड़े सत्य प्रदर्शित नहीं किए जा सकते, केवल अनुभव किए जा सकते हैं। लाइबनित्स की शिक्षाओं में ऐसे मत का कुछ औचित्य था क्योंकि वह अनुभूति या प्रवृत्ति को ज्ञान की दूसरी अवस्था या सत्य का स्वाभाविक रूप समझता था। इसे लाइबनित्स ने ज्ञान का निम्न और भ्रान्त रूप माना था; आस्था या अनुभूति वाले दार्शनिक उसमें एक उच्च पक्ष को देखते हैं : मनुष्य की सीमित बुद्धि जिसको नहीं जान सकती उसकी अनुभूति धार्मिक, सौंदर्य या नैतिक अनुभव में हो सकती है। ऐसे लोगों में जे० जी० हमन (+ १७८८), अपनी "मेटा-क्रीटीक" में कांट की "क्रीटीक आव् प्योर रीजन" का आलोचक जे० जी० हर्डर (१७४४-१८०३) और अन्तर्साक्ष्य पर आश्रित दर्शन से बुद्धिवादी तत्व-समीक्षा का विरोधी एफ० एच० याकोबी (१७४३-१८१९) हैं।

नए चर्च के बुद्धिवादी ईश्वरवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया से जर्मन प्रोटेस्टैंट-

वाद में पायटिज्म (Pietism) नामक आन्दोलन का उदय हुआ : ईसाई धर्म आन्तरिक रूपान्तर है, प्रोफेसरों के चिंतन का सिद्धान्त नहीं है। पी० जे० स्पेनर (१६३५-१७०५), ए० एच० फ्रांक (१६६३-१७२७) और जे० जे० लांगे (१६७०-१७४४) इस मत के समर्थक हैं; इनमें से अन्तिम दो पर सी० वोल्फ को हाल से प्रोफेसर के पद से च्युत कराने का दायित्व है।

———

प्रबुद्धकालीन दर्शन

(Philosophy of the Enlightenment)

१४

प्रबुद्धकाल की उन्नति

अठारहवीं शती

हमने आधुनिक स्पिरिट को मध्यकालीन समाज, उसकी संस्थाओं और धारणाओं के प्रति विद्रोह और विचार और कर्म के क्षेत्र में मानवी बुद्धि का आत्मस्थापन कहा है। जो काम पुनरुत्थान काल (Renaissance) में शुरू हुआ था वह सोलहवीं और सत्रहवीं शती तक रहा; सुधारण (Reformation), तीस वर्षीय युद्ध और फ्रांस में होने वाली सामाजिक क्रांतियाँ परिवर्तन के लक्षण थे। यूरोप की महान् व्यवस्थाओं और अपनी विभिन्न शाखाओं के साथ अँग्रेजी अनुभववाद ने अपने को उत्पन्न करनेवाली आग में ईंधन का काम दिया; और स्वतंत्र खोज की स्पिरिट ने धीरे-धीरे पर निश्चित रूप से जीवन का दृष्टिकोण बदल दिया। किंतु नए विचारों को सर्वप्रिय बनाकर सबके पास तक पहुँचाना था, और यह काम अठारहवीं शती में हुआ जिसे प्रबुद्धकाल की शती कहते हैं : यह शती अभी तक वर्णित सारे बौद्धिक आन्दोलन की पराकाष्ठा है। यह युग सिद्धान्तों और जगत-विषयक दृष्टिकोणों का है; इस शती को समस्याओं का समाधान करने का पूरा विश्वास मानवी मनस् में है जिससे यह मानव जीवन--राज्य, धर्म, नैतिकता, भाषा--और विश्व की पहेलियों को समझने पर कमर कसती है। यह दार्शनिक मतों का युग है जिसने वोल्फ की "रीजनेबिल थॉट्स ऑन गॉड, दि वर्ल्ड एन्ड दि सोल आव् मैन" जैसी अनेक पुस्तकें लिखने का साहस किया। यह अपने ख्यालों को साहस के साथ कह सकने के स्वतंत्र विचारों और निर्भीकता से अपने सिद्धान्तों के परिणाम निकालने का--फ्रांस में विशेषतया--युग है।

अठारहवीं शती में दर्शन अपने युग की चेष्टाओं का दर्पण ही नहीं था वरन् उसने उनके कर्म को भी प्रभावित किया था। वह विद्वानों की चीज न

रहकर, सुकरात के समय की भाँति, जनता में घुल मिल गया था। उसकी भाषा भी शास्त्रीय न रहकर जनता की भाषा हो गई थी और उसके शब्द सामान्य बुद्धि रखनेवालों के लिए बोधगम्य हो गए थे। सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक शोषण होने से फ्रांस में प्रबुद्ध काल का अत्यन्त तीव्र प्रतिपादन हुआ; और यहाँ उसका प्रभाव भी अत्यधिक था: फ्रांस की क्रांति नए विचारों के फैलने का फल थी। आधुनिक दर्शन के लगभग सभी मुख्य सिद्धान्तों की विशेषता, मानवी बुद्धि और अधिकार का सम्मान, अठारहवीं शती में सार्वभौम हो गया और मानवता, शुभकामना, प्राकृतिक अधिकार, स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा ये शब्द हर जबान पर चढ़ गए। पैतृकवादी शासनों ने भी मानव जाति के हित और सुख में योग देना अपना काम माना। मध्ययुग के प्रति विद्रोह शती के अन्त में होनेवाली महान् सामाजिक और राजनैतिक उथल-पुथल में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया: पुरानी व्यवस्था का स्थान एक नए समाज ने ले लिया। आधुनिक स्पिरिट जो कुछ चाहती थी वह अंशतः प्राप्त हो चुका था: पूजा और बौद्धिक स्वतंत्रता, समान अवसर और आर्थिक स्वतन्त्रता, लोकसम्मत शासन और कानून के सामने सब लोगों की समानता।

वाल्तेयर

नई स्पिरिट को जगाने और नए विचारों को फ्रांस और सारे यूरोप में फैलाने में प्रमुख लोग थे वाल्तेयर (१६९४-१७७८) और मांटेस्क्यू (१६८९-१७५५)। ये दोनों इँग्लैंड गए थे और अँगरेजी संस्थाओं के प्रशंसक थे। प्रबुद्ध-काल के प्रतिभाशाली प्रचारक वाल्तेयर ने लॉकीय विचारों को उपयोज्य किया और लोकप्रिय बनाया; न्यूटन के प्राकृतिक दर्शन और अँग्रेजी देववाद (deism) के साथ ये विचार वह इँग्लैंड से वापस आते समय अपने साथ लाया था। वह स्वयं देववादी था और उसने ईश्वर में अपना विश्वास कभी नहीं छोड़ा, 'सारी प्रकृति पुकार पुकार कर कहती है कि उसकी (ईश्वर की) सत्ता है।" शुरू-शुरू में वह संकल्प स्वातंत्र्य और आत्मा की अमरता में विश्वास करता था किंतु बाद में मृत्यु के बाद जीवन के प्रति वह सन्देह रखने लगा और उसका रुझान भी प्रतिनिवेशवाद (determinism) की ओर हो गया: "जब मैं वह कर सकता हूँ जिसका संकल्प करता हूँ तो मैं स्वतंत्र हूँ किंतु मैं अनिवार्यतः वही करूँगा जिसका मैं संकल्प करूँगा।" किंतु उसने अन्धविश्वास और धार्मिक आधिपत्य पर सदा कुठाराघात किया: वह श्रुत धर्म को अज्ञान और धोखे से उत्पन्न समझता था, श्रुत धर्म पुरोहितों द्वारा मानवी मूढ़ता का लाभ उठाकर उन पर आधिपत्य जमाए रखना है। उसका धर्म नैतिकता के अटल सिद्धान्तों, जो उसकी राय में सब दार्शनिकों की शिक्षा में मूलरूप से

समान रहे हैं, पर आधारित था। उसने हर तरह के शोषण का विरोध किया और वह बौद्धिक, राजनैतिक और धार्मिक स्वतंत्रता के लिए लड़ता रहा। वह प्रेस की स्वतंत्रता, निर्वाचन, पार्लमेंट के लिए लड़ा और उसने उद्योग और व्यापार में समृद्ध हो चुके तृतीय स्टेट (third estate) या मध्यवर्ग के राजनैतिक अधिकारों की माँग की। किंतु अपने इस सब उदारतावाद (liberalism) के होते हुए भी वह जनतन्त्र (democracy) का समर्थक नहीं था; उसको निम्न स्तर के लोगों में स्वशासन की क्षमता पर भरोसा नहीं था: "अज्ञानी जनसंकुल का होना," उसने कहा "आवश्यक लगता है; जब वे वाद-विवाद करते हैं तो सब कुछ नष्ट हो जाता है।" बौद्धिक युग में "चमारों, जमींदारों और वेश्याओं" का स्थान नहीं है।

वाल्तेयर के विचार बहुत हद तक लॉकीय दर्शन की अभिव्यक्ति हैं यद्यपि उस पर अठारहवीं शती फ्रांस के लगभग हर बौद्धिक नेता को प्रभावित करनेवाली बेल की "डिक्शनरी" का प्रभाव भी है। फ्रांस को उदार बनाने और वहाँ क्रांति लाने का बहुत बड़ा श्रेय अँग्रेजी विचारों को है।

प्रबुद्धकाल : इंग्लैंड में

प्रबुद्धकाल जितने कम समय में फ्रांस में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया उतने समय में इँग्लैंड में नहीं पहुँचा और उसका प्रभाव भी इँग्लैंड में फ्रांस की तरह एकदम नहीं पड़ा। सामाजिक दशाएँ एक सी नहीं थीं और वहाँ अधिक उन्नति होती: नए विचार और आदर्श धीरे-धीरे लोगों के जीवन में समा गए थे। लाकीय सिद्धान्तों को अपना आधार बनानेवाले लगभग सभी दार्शनिकों को प्रकाश देनेवाला कहा जा सकता है। देववादी, नैतिकवादी, ह्यूम, हार्टले, प्रीस्टले, इरैस्मस डारविन, विलियम गाडविन, टॉमस पेन इन सब ने स्वतंत्र विचारों की उन्नति को प्रशस्त किया।

प्रबुद्धकाल : जर्मनी में

अठारहवीं शती के मध्य तक जर्मनी में लाइबनित्स-वोल्फीय तत्वसमीक्षा का प्राधान्य था। बाद में लाक, ह्यम और शैफ्ट्सबरी, हुचिसन, फर्गुसन जैसे अँग्रेजी नैतिकवादियों की पुस्तकों के अनुवाद द्वारा जर्मनी में अँग्रेजी विचारों का प्रभाव फैलने लगा। इसका फल बुद्धिवाद और अनुभववाद का मेल और एक उद्धारकवाद (eclecticism) या सामान्य-बुद्धि-दर्शन (common-sense philosophy) हुआ जो मानवी इतिहास और विश्व की धारणा एक बौद्धिक या प्रयोजनवादी (teleological) व्यवस्था के रूप में करता है और जिसे, चूंकि वह बुद्धि ही की अभिव्यक्ति है, बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। इसका

काम सारे रहस्य को स्पष्ट कर देना और अन्धविश्वासों को निकाल फेंकना और हर चीज को बुद्धि के प्रकाश से देखना था। यह एक प्राकृतिक ईश्वरवाद देता है और सब धर्मों की मूलभूत धारणाओं, जैसे ईश्वर की सत्ता संकल्प स्वातन्त्र्य और आत्मा की अमरता को स्पष्ट करके उनका प्रमाण देने का बीड़ा उठाता है। इस आन्दोलन में हमने तत्वसमीक्षा के क्षेत्र का नेतृत्व करनेवालों का उल्लेख किया है। इतिहास के अध्ययन में भी उसी बौद्धिक प्रणाली को उपयोजित किया गया है : भाषा, कानून, राज्य, नैतिकता, धर्म मानवी बुद्धि से उत्पन्न होते हैं, जैसे मनुष्य ने अपने विचारों को व्यक्त कर सकने के लिए भाषा का आविष्कार किया, अपने हित के लिए राज्य की व्यवस्था की। चूंकि ये सब चीजें बुद्धि का काम हैं इसलिए हमारा आदर्श अधिकाधिक बौद्धिक बनाना होना चाहिए, हमें उनमें से अबौद्धिक और संयोगवश आ गए तत्वों को निकाल देना चाहिए जिन्होंने इतिहासक्रम में आकर उन्हें विकृत कर दिया है। इस बौद्धिक विचारधारा ने जर्मनी में राजनैतिक धारणाओं के परिवर्तन में सहायता दी और शासकों (फ्रेडरिक महान् और सम्राट् जोजेफ) के दरबार में भी समानता और प्राकृतिक अधिकारों को सर्वप्रिय बनाया : सामाजिक मतभेद प्रकृति और बुद्धि के विरोधी हैं।

यह युग अपनी प्रतियोगिता और स्पष्टता को सौंदर्य शास्त्र (aesthetics) के क्षेत्र में भी ले जाता है; कविता मूर्त्तिकला निर्माणकला और चित्रकला बौद्धिक आदर्शों का अनुकरण करती हैं : जैसा कि किसी ने कहा है गेलेर्ट की कहानियाँ "पद्य में नैतिक दर्शन" हैं और उसके धार्मिक गीत" "लय में रक्खा बौद्धिक ईश्वरवाद" है। गोटशेड ने "आर्ट आव् पोएट्री" पर एक पुस्तक लिखी जिसमें यह दिखाया गया है कि कविता को मनुष्य जाति को नैतिक बनाने और प्रबुद्ध करने का साधन किस तरह बनाया जा सकता है।

यह वही आन्दोलन है जिसकी अभिव्यक्ति इँग्लैंड में एक शती पहले लॉक के दर्शन में हुई थी। अठारहवीं शती के बाद के पच्चीस वर्षों में जर्मनी के बौद्धिक जीवन को सबसे उज्वल बनानेवाले साहित्य और दर्शन के महान् नेताओं ने इसका विरोध किया। कांट ने प्रबुद्धकाल के बौद्धिक ईश्वरवाद (Rational theology), हर्डर ने इतिहास की बौद्धिक व्याख्या और विंकेलमन, लेसिंग, गेटे और शिलर ने बौद्धिक सौंदर्य शास्त्र पर प्रहार किया।

भौतिकवाद और विकासवाद

हम देख चुके हैं कि देकार्तीय दर्शन किस तरह मैलेब्रांश में विषय सापेक्ष प्रत्ययवाद (objective idealism) तक और अँग्रेजी अनुभववाद बार्कले में किस तरह प्रत्ययवाद (idealism) तक अग्रसर हो गया। वही महान्

आन्दोलन अठारहवीं शती में भौतिकवादी व्याख्या में बदल गए। देकार्त ने आवयविक क्षेत्र की यंत्रवादी व्याख्या की थी और पशुओं को मशीन माना था। उसने यह भी सुझाया कि मनुष्य भी मशीन है और आत्मा कोई अलग तत्व न होकर शरीर की क्रिया है। लॉक के उत्तराधिकारियों (कोंदिलैक, हार्टले और अन्य लोगों) की सारे मानसिक व्यापारों को संवेदन में अपचय करने की चेष्टा ने ऐसी प्रारंभिक अवस्थाओं को केवल मस्तिष्क की तरंगें मानने के दृष्टिकोण की ओर आने का मार्ग साफ कर दिया। लाइबनित्स ने पुद्गल को ओज (force) माना और उसका साधर्म्य आध्यात्मिक क्रिया से समझा; दूसरों ने इस क्रम को उलट दिया और आध्यात्मिक क्रिया की भौतिक ओज (force) से व्याख्या की। और जब अरस्तू की तत्वसमीक्षा में प्रधानता रखनेवाले आध्यात्मिक सिद्धान्तों का आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रकृति से बहिष्कार हो गया और दर्शन द्वारा उनका एक दूसरा ही संसार बना दिया गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या कि कुछ विचारकों ने उनका बिल्कुल परित्याग करके सारे अनुलक्षणों (phenomena) की व्याख्या गतिमय पुद्गल (matter in motion) की भाँति की।

अठारहवीं शती में भौतिकवादी दृष्टिकोण इँगलैंड और फ्रांस में प्रवेश पा गया और अठारहवीं शती के अन्त तक वह फ्रांस के प्रबुद्ध लोगों की सर्वप्रिय धारणा बन गया। जान तोलाँ (१६७०-१७२१) की बाद की रचनाओं के अनुसार विचार मस्तिष्क की क्रिया है, "मस्तिष्क की कोई गति" है, जिस तरह जिह्वा स्वाद की इन्द्रिय नहीं है उसी तरह मस्तिष्क भी विचार की इन्द्रिय नहीं है। डेविड हार्टले (१७०४-१७५७) सारे मानसिक व्यापारों को यंत्रवादी नियमों का पालन करनेवाली मस्तिष्क की तरंगों पर आधारित मानता है,—मनोवैज्ञानिक संवास (association) शारीरिक संवास (physiological association) से अवहित होता है,—किंतु वह चेतनता की अवस्थाओं को गति नहीं बनाता। वह मनस् और शरीर के संबंध को कारणपरक मानने या न मानने के बारे में निश्चित नहीं है। ऑक्सीजन की खोज करनेवाला जोजेफ प्रीस्टले (१७३३-१८०४) क्रियाओं से मानसिक व्यापारों का तादात्म्य करता है और इस तरह वह मनस्-शरीर समस्या के भौतिकवादी समाधान को निर्भीकता से स्वीकार करता है। फिर भी वह ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता से इनकार नहीं करता; हॉब्स का अनुकरण करते हुए वह यह कहता है कि मानवी और दैवी आत्मा की भौतिकता की धारणा और ईसाई धर्म में असंगति नहीं है।

देकार्त और लॉक दोनों से प्रभावित होनेवाला फ्रांसीसी ल मैत्री (१७०९-१७५१) अपने भौतिकवाद को देकार्त की पशुओं या आवयविकता (organism) की यंत्रवादी व्याख्या कर आधारित करता है : यदि पशु मशीन हैं तो

मनुष्य क्यों नहीं हो सकता ? भौतिकवादी धारणा ने जर्मनी के बैरन ड' होलबाख के हाथों तत्वसमीक्षा की एक विशद व्यवस्था का रूप ले लिया। हरेक चीज की व्याख्या पुद्गल और गति, अनिवार्य नियमों के परिणाम, से की गई है। आत्मा नहीं है; विचार मस्तिष्क की क्रिया है, और केवल पुद्गल ही अमर है। मानवी संकल्प निर्धारित होता है, प्रकृति या उसके बाहर कोई योजना नहीं है, कोई उद्देश्य नहीं है और कोई ईश्वर नहीं है।

भौतिकवाद के अन्य समर्थक अपने जीवन के अन्तिम काल में देनिस दिदरो (१७१३-१७८४), कैबेनी (१७५७-१८०८; जिस तरह पाचन पेट की क्रिया है उसी तरह विचार मस्तिष्क की क्रिया है) और देस्तुत दि त्रैसी (१७५४-१८३६) हैं, किंतु उनमें एकरूपता नहीं है। फ्रांसीसी जीवविज्ञानी बूफों और रोबिनों ने भौतिकवाद का संशोधित रूप (hylozoism) स्वीकार किया था। बूफो प्राणमय अणुओं की सत्ता मानता है और रोबिनो (वह लाइबनित्स से प्रभावित था) पुद्गल के हरेक अणु में संवेदन (sensation) को मानता है। अनेक तत्कालीन विचारकों की रचनाओं में विकासवादी धारणा मिलती है, जैसे दिदरो, ल मैत्री और दि बोने में। ये लोग लैमार्क और डारविन के अग्रगामी कहे जा सकते हैं।

फ्रांसीसी प्रबुद्ध काल के विचारकों में विस्तृत रूप से चाहे कितना ही भेद क्यों न हो किंतु वे सब यह मानते हैं कि प्रकृति की घटनाएँ, चाहे वे भौतिक हों या मानसिक, नियमों से संचालित होती हैं और मनुष्य का मानसिक और नैतिक जीवन प्रकृति की अनिवार्य उपज है। इस दृष्टिकोण से हेलवेतियस (१७७१) मानवी नैतिकता की व्याख्या करता है, अर्थशास्त्री तर्गो और कांदोरसे (१७४३-१७९४) इतिहास-दर्शन को विकसित करते हैं और मांटेस्क्यू (१६८९-१७५५) मानवी कानून और संस्थाओं का अध्ययन करता है।

विज्ञान

प्रबुद्ध काल ने अपने काम को पूर्ववर्त्ती शतियों द्वारा दिए गए सामान्य विचारों का प्रचार करने तक ही सीमित नहीं रक्खा; इस शती ने मानसिक और प्राकृतिक विज्ञानों का अध्यवसायी अध्ययन भी किया। इस शती ने गणित के क्षेत्र में ऑयलर, लैगरैंग और लाप्लास; नक्षत्र विद्या में हेर्शेल और लाप्लास; भौतिक विज्ञान में गैलवानी और वोल्टा; रसायन शास्त्र में लैवायजिए, प्रीस्टले, डैवी, हे और वर्जेलियस; जीवविज्ञान में लिने, हालेर, बिशा और सी० एफ० वोल्फ; अनेक विज्ञानों में विशारद अलैक्जांडर फोन हुम्बोल्ट; राजनीति और न्याय-विद्या (jurisprudence) में मांटेस्क्यू; नए अर्थशास्त्र के जन्मदाता क्वेस्ने, तर्गो और आदम स्मिथ; सौंदर्य-शास्त्र में बाउमगार्टेन

जैसे लोगों को उत्पन्न किया। और पहले ही गिनाए हुए मनोविज्ञानियों और आचारशास्त्रियों के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं है।

जाँ जैक रूसो

प्रबुद्ध-काल ने ज्ञान-विज्ञान और कलाओं, सभ्यता और उन्नति का गौरव बढ़ाया और मानव जाति के उपार्जनों पर अभिमान किया। जाँ जैक रूसो (१७१२-१७७८) ने प्रबुद्धकाल के इस अभिमान और आत्मविश्वास को जड़ से हिला दिया। उसने कलाओं और विज्ञान को आरामतलबी और आलस्य का फल और नैतिक पतन की जड़ माना और प्रकृति की प्राकृतिकता और सादगी की ओर लौट चलने की माँग रक्खी। मनुष्य की प्रकृति भोली और भली होती है; उसमें अपनी रक्षा करने और अपनी क्षमताओं का विकास करने की प्रवृत्ति होती है, किंतु वह दूसरों के प्रति सहानुभूति से प्रलोभित और धार्मिक अनुभूति, कृतज्ञता और श्रद्धा से प्रेरित होता है। नैतिकता और धर्म तार्किक चिंतन के विषय न होकर प्राकृतिक अनुभूति के विषय हैं। मनुष्य का मूल्य उसकी बुद्धि पर निर्भर न होकर मुख्यतया अनुभूति से निर्मित उसकी नैतिक प्रकृति पर निर्भर करता है : निरपेक्ष मूल्य सत्संकल्प (good will) का ही है। रूसो हमारे मानसिक जीवन में भावनाओं की प्रधानता पर जोर देता है, वह इस बात को कि बुद्धि के विकास से मनुष्य पूर्ण बनता है नहीं मानता। प्राकृतिक रूप से सब मनुष्य समान हैं; सम्पत्ति की संस्था द्वारा समाज ने उनको असमान बना दिया है जिससे एक ओर तो स्वामी, संस्कृत और और अमीर हैं और दूसरी ओर दास, असंस्कृत और निर्धन हैं। सभ्यता ने अपनी संस्कृति और उससे निकली वाली असमानताओं से हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को भ्रष्ट कर दिया है जिससे एक ओर तो दास्य और स्वामित्व के दोष दासता, ईर्ष्या, घृणा पैदा हो गए हैं और दूसरी ओर तिरस्कार। इन सब बातों से जीवन यंत्रवत् और कृत्रिम हो गया है। यह दृष्टिकोण कुछ आधुनिक समाजवादी धारणाओं से मिलता है जो गुण और दोषों का मूल सामाजिक दशाओं में पाती हैं और मनुष्य को समाज सुधार द्वारा पूर्ण बनाना चाहती हैं।

रूसो लोकसम्मत शासन (representative government) के स्थान पर सीधे जनता का शासन (उपक्रम और जनमत, Initiative and referendum) चाहता है। उसकी राजनैतिक धारणा स्विट्जरलैंड की गणराज्यवादी (republican) की भाँति अँग्रेजी संवैधानिक राजतन्त्र (constitutional monarchy) है जो कि लाक की थी और वाल्तेयर ने जिसका अनुकरण किया था। उसने जनता में तृतीय स्टेट (third estate) या समृद्ध मध्यवर्ग

को ही नहीं वरन् चतुर्थ स्टेट् (fourth estate) या श्रमजीवी और किसान वर्ग को भी शामिल किया जिस वर्ग का वह स्वयं था और उसने अपने वर्ग के लिए समान अधिकार और सामाजिक बंधनों से मुक्ति माँगी जिस तरह वाल्तेयर ने मध्यवर्ग के लिए समान राजनैतिक अधिकारों और विचार स्वातंत्र्य की माँग की थी। रूसो जनतन्त्र (democracy) की लाकीय धारणा को गम्भीरता से लेता है; यदि सब मनुष्य स्वतंत्र और समान पैदा होते हैं और उनकी क्षमताएँ तथा प्राकृतिक अधिकार एक होते हैं तो किसी विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को, चाहे वह अभिजात-तन्त्र (aristocracy) हो या औद्योगिक मध्यवर्ग, उन पर शासन करने और उनसे उनकी दाय छीन लेने का कोई अधिकार नहीं है। यह रूसो के ही विचार थे जिन्होंने सन् १७८९ और १७९३ के "मनुष्य के अधिकारों की घोषणा" (Declaration of the Rights of Man) में स्वर पाया; और वही धारणाएं अब तक देशों के विधान-निर्माण को प्रभावित कर रही हैं।

प्राकृतिक अवस्था की ओर पलायन हमें इस भ्रष्ट और कृत्रिम जीवन से छुटकारा दिला सकेगा जो प्राकृतिक दशाओं और शिक्षा की प्राकृतिक प्रणाली को उत्पन्न करने से ही संभव हो सकता है। प्राकृतिक समाज एक ऐसे अनुवन्ध पर निर्भर है जिसमें व्यक्ति सबके संकल्प या लोगों के नैतिक संकल्प से सीमित नागरिकता की स्वतंत्रता के लिए अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का का परित्याग कर देता है। स्वतंत्रता स्वनिर्मित विधान का पालन है। प्रभुता लोगों में होती है; सबका संकल्प--यदि उसका उद्देश्य लोक कल्याण हो--ही सर्वोपरि विधान है। शासन लोगों के आदेशों को कार्यान्वित करता है और लोग शासन को सौंपी गई शक्ति को सीमित या समाप्त कर सकते हैं।

रूसो की शिक्षा की धारणा प्राकृतिक शिक्षा का अनुमोदन है जिससे बच्चे की प्राकृतिक और पवित्र प्रवृत्तियों का स्वतंत्र विकास हो सके। जब तक ज्ञान की प्यास न लगे तब तक शिक्षा नहीं देनी चाहिए। अतएव शिक्षा को अधिकतर निषेधात्मक होना चाहिए, उसको बड़ी सावधानी से प्रतिकूल दशाओं को हटा देना चाहिए। बच्चे के व्यक्तितव का अध्ययन होना चाहिए और अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों में भेद कर सकने के लिए उसकी प्रकृति का पोषण होना चाहिए। अतएव यह उचित है कि बच्चे को उसके सामाजिक वातावरण से अलग कर दिया जाय जिससे किसी निजी शिक्षक की देख रेख में उसका विकास प्राकृतिक पथ का अनुसरण कर सके। रूसो की धारणा ने आधुनिक शिक्षा को बहुत प्रभावित किया है। उसकी धारणा को व्यवहार में लाने वाले अनेक लोगों में बेसडो, पेस्टलोजी और फ्रिबेल भी हैं।

ये विचार लॉकीय सिद्धान्तों से असंगत नहीं हैं। यदि आत्मा अपने प्राकृतिक-

रूप में कोरी तख्ती ही है तो सब मनुष्य समान हैं और उनमें जो भेद हैं वे जैसा कि हेलवेतियस मानता था विभिन्न तरह के बाहरी कारणों से होते हैं। मानव-जाति की पूर्णता के लिए शिक्षा और सामाजिक वातावरण बहुत आवश्यक साधन हो जाते हैं।

रूसो प्राकृतिक धर्म को मानता हुआ वाल्तेयर की भाँति भौतिकवाद और नास्तिकवाद का विरोध करता है; इस अर्थ में वह देव-वादी (deist) है। किंतु उसके लिए धर्म का मूल अनुभूति में है, यद्यपि धर्म के सत्य बुद्धि से प्रदर्शित हो सकते हैं तथापि वह मनस् का विषय न होकर हृदय का विषय अधिक है। आत्मा अभौतिक, स्वतंत्र और अमर है; इस जगत में पाप की तूती बोलने ने पुनर्जीवन को अनिवार्य बना दिया गया है।

रूसो ने जर्मनी में कांट, हर्डर, गेटे और शिलर के ऊपर प्रबल प्रभाव डाला। रूसो के विचारों से अपने में उत्पन्न परिवर्तन को कांट ने इन शब्दों में लिखा है : "मैं स्वयं स्वभावतः एक अन्वेषक हूँ और मुझमें ज्ञान की अदम्य प्यास है और मैं उसकी उन्नति के लिए बड़ा उत्सुक रहता हूँ और उसकी रत्ती भर उन्नति से भी मुझे बड़ा सन्तोष मिलता है। एक समय था जब मैं यह विश्वास करता था कि यह सब शायद मनुष्य जाति का गौरव बढ़ा सके और मैं अज्ञानी जनसंकुल का तिरस्कार करता था। रूसो ने मेरी आँखें खोल दी। मेरी आत्म-प्रशंसित वरिष्ठता मिट गई है; मैं मानवजाति का सम्मान करना सीख रहा हूँ और यदि मैं यह विश्वास न करता कि मेरा यह मनन और सब व्यवसायों को महत्व देगा और मानवजाति के अधिकारों का पुनर्स्थापन करेगा तो मैं अपने को एक साधारण मजदूर से भी गया बीता समझता।"

———

इमैनुएल कांट का आलोचनात्मक दर्शन

The Critical Philosophy of Immanuel Kant

१५

इमैनुएल कांट

आधुनिक दर्शन की उन्नति

आधुनिक दर्शन मानवी बुद्धि में ज्ञान को पाने की शक्ति में आस्था रख-कर चला था; प्रश्न केवल यही था कि ज्ञान कैसे और किस प्रणाली से प्राप्त हो सकता है और उसकी सीमाएँ कहाँ तक जाती हैं। अनुभववादियों और बुद्धिवादियों ने समान-रूप से यथार्थ ज्ञान को सार्वभौम और अनिवार्य माना और ह्यूम तक लगभग सभी विचारकों ने कुछ क्षेत्रों में स्वयंसिद्ध प्रस्तावनाओं की संभावना मानी। देकार्त, हॉब्स, स्पिनोजा और लाइबनित्स ने अपने द्वारा निर्मित तत्वसमीक्षा की व्यवस्थाओं को यूकलिड की ज्यामिति की भाँति युक्ति-युक्त माना। बेकन ने कोई सार्वभौम धारणा नहीं बनाई : नई प्रणाली से तथ्यों को स्थापना हो जाने पर ही यह काम हो सकता था। किंतु बेकन ने यह माना था कि ईश्वर को सत्ता का प्रदर्शन हो सकता है और वस्तु के शाश्वत स्वत्व या प्रकृति के नियमों की खोज की जा सकती है। किंतु फिर भी पारमार्थिक समस्याओं या उससे भी कम कार्यक्षेत्र की समस्याओं का समाधान कर सकने पर मानवी बुद्धि में सन्देह किया जाने लगा। कभी-कभी बेकन को लगता था कि तत्वसमीक्षा और ईश्वरवाद प्राकृतिक बुद्धि को शक्ति से बाहर हैं। देकार्त से सहमत होते हुए भी कि अनुभव निश्चितता नहीं दे सकता। हाब्स ने संवेदन को सारे ज्ञान का मूल मानकर कभी-कभी भौतिक विज्ञान के यथार्थ ज्ञान के प्रति सन्देह-सा प्रकट किया। लाक ने ज्ञान की परीक्षा अधिक ध्यान से करना आवश्यक समझा और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि हमें अपने प्रत्ययों (ideas) की सहमति और असहमति, अपनी ईश्वर की सत्ता का निश्चत ज्ञान होता है और गणित और आचारशास्त्र सुरक्षित हैं। किंतु उसने यह माना कि हमें वाह्य जगत की सत्ता और वस्तुओं के गुणों के अनिवार्य

सम्बन्ध का निश्चित ज्ञान नहीं होता : प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में सच्चे ज्ञान का प्रश्न उठाना बेकार है। बार्कले का कहना था कि ज्ञेय बाह्य (भौतिक) जगत नहीं है और हम प्रत्ययों स्पिरिटों और प्रत्ययों के सम्बन्धों को ही जानते हैं। बेल ईश्वरवाद और तत्वसमीक्षा की धारणाओं को बुद्धि से परे ही न मानकर उसके विपरीत मानता है। ह्यूम उन परिणामों तक पहुँचता है जो उसके अनुसार ज्ञान के संवेदनवादी दृष्टिकोण का फल हैं : यदि हम यह जान सकें कि हमें अनुभव संवेदन में क्यों होता है तो बौद्धिक ईश्वरवाद सृष्टिशास्त्र (cosmology) और बौद्धिक मनोविज्ञान असम्भव है: ईश्वर, जगत, और आत्मा का ज्ञान हमारी पहुँच से बाहर है। ऐसी दशा में हमारा इतिवृत्तात्मक ज्ञान भी संभावना मात्र ही है; हमें अनिवार्य सम्बन्धों, द्रव्य, आत्मा का ज्ञान नहीं होता : हम इतना भी नहीं कह सकते कि हमारे प्रत्यय अनिवार्यतः उसी क्रम से अनुसरित होंगे जिसमें हम उनका अनुभव करते हैं और विश्वास करते हैं कि वे उसी क्रम में अनुसरित होते रहेंगे। हम अपने प्रत्ययों के उपमान से, उनके सम्बन्धों को देखने से और सम्बन्धों पर चिंतन करने से "एक तरह का प्रदर्शनात्मक ज्ञान" पा सकते हैं और कुछ नहीं।

रहस्यवाद

जिस आलोचनात्मक प्रवृत्ति ने प्रभुता और परम्परा की उपेक्षा करके बुद्धि को प्रतिष्ठित किया था अब वही प्रवृत्ति बुद्धि को भी न्याय के अन्तर्गत लाकर उसकी प्रभुता को अस्वीकार कर रही थी। केवल अनुभववादी ही बुद्धिवाद को तोलकर उसमें कमी नहीं पा रहे थे वरन् रहस्यवादी और आस्तिक दार्शनिकों ने भी बुद्धि की डींग का विरोध किया; इन लोगों ने बुद्धि पर अविश्वास प्रकट कर निश्चितता को मानवी आत्मा की अन्य क्रियाओं या पक्षों में खोजने का प्रयास किया। उनके अनुसार विवेकात्मक समझ वास्तविकता के आवरण को कभी नहीं भेद सकती; सत्य का मूल अनुभूति, आस्था या किसी रहस्यात्मक दृष्टि में ही है; बुद्धि गहनतर वास्तविकता को नहीं जान सकती, उसकी अनुभूति हृदय को ही हो सकती है। आधुनिक काल में ऐसे अबौद्धिक उद्गारों को यंत्रवादी और नियतवादी जगत विषयक दृष्टिकोण ने ही उकसाया; ये दृष्टिकोण वैज्ञानिक और बौद्धिक चिंतन का आवश्यक परिणाम सा प्रतीत होते हैं और व्यक्ति को कठपुतली मात्र बना देते हैं। बहुत से लोगों की दृष्टि में बेलगाम प्राकृतिक बुद्धि का पर्यवसान मनुष्य की गहनतम भावनाओं और उसके मूल्यों का उपहास करनेवाले निराशापूर्ण सन्देहवाद या फिर दुखमय भाग्यवाद (fatalism) में होता है।

कांट की समस्या

बुद्धि की अपनी योग्यता की इस विनाशक आलोचना और नैतिक और धार्मिक मूल्यों की मान्यता करने की संकल्प की माँग ने दर्शन को कोई उत्तर देने पर विवश कर दिया। इस काम का बीड़ा कांट ने उठाया और उसने अपने समय की विभिन्न धाराओं--प्रबुद्धकाल, अनुभववाद, सन्देहवाद और रहस्यवाद के प्रति न्याय करने की चेष्टा की। जैसा कि उसके एक समकालीन ने कहा है कि उसकी समस्या "एक ओर तो ह्यूम के सन्देहवाद और दूसरी ओर प्राचीन मताग्रह को परिमित करना थी और भौतिकवाद, भाग्यवाद, नास्तिकवाद, भावुकतावाद और अन्धविश्वास का खण्डन और विनाश करना थी।' उस पर स्वयं वोल्फ के बुद्धिवाद का प्रभाव था किंतु वह अँग्रेजी अनुभववाद' और रूसो के प्रति भी आकृष्ट हुआ था और ह्यूम ने तो उसे "उसकी रूढ़िवादी नींद से जगाया" था। उसने मानवी बुद्धि की परीक्षा या आलोचना की सख्त जरूरत समझी जिससे बुद्धि के न्यायोचित दावों की रक्षा हो सके और अनाधारित दावों का वहिष्कार हो सके। दूसरे शब्दों में उसने एक ऐसी ज्ञान विषयक धारणा की आवश्यकता समझी जो सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की संभावना या असम्भावना, उसके मूल, पहुँच और सीमाओं की खोज करे। उसके अनुसार दर्शन में अब तक मताग्रह रहा है क्योंकि दर्शन अपनी शक्तियों की पूर्व आलोचना किए ही बढ़ता रहा है। अब उसे आलोचनात्मक होना चाहिए, उसे बुद्धि के अधिकरण की निष्पक्ष परीक्षा करनी चाहिए; इस अभिप्राय से कांट अपनी तीन "क्रीटीक्स" (परीक्षाएँ) लिखता है: "क्रीटीक आव् प्योर रीजन" (शुद्ध बुद्धि की आलोचनात्मक परीक्षा), जिसमें अव्यावहारिक चिंतन या विज्ञान की परीक्षा है; "क्रीटीक आव् प्रैक्टिकल रीजन" (व्यवहारिक बुद्धि की आलोचनात्मक परीक्षा), जिसमें नैतिकता या व्यावहारिक बुद्धि की परीक्षा है और "क्रीटीक आव् जजमेंट" (निर्णय की आलोचनात्मक परीक्षा), जिसमें हमारे प्रयोजनमूलक और सौंदर्य सम्बन्धी निर्णयों या कलाओं और प्रकृति के उद्देश्य की परीक्षा है।

कांट यथार्थ ज्ञान को सार्वभौम और अनिवार्य मानता है। वह बुद्धिवादियों से इस बात में सहमत है कि ऐसा ज्ञान भौतिक विज्ञान और गणित में है, अनुभववादियों से वह इस बात में सहमत है कि ऐसा ज्ञान आदर्श ज्ञान है और वह वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान न होकर अनुलक्षणों (phenomena) का ज्ञान है; यह ज्ञान वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों को जिस तरह प्रतिभासित होती हैं वह है; अतएव बौद्धिक तत्वसमीक्षा (सृष्टिशास्त्र, ईश्वरवाद और मनोविज्ञान) असम्भव है। कांट अनुभववादियों से इसमें भी सहमत है कि हम

उसी को जान सकते हैं जिसका हमें अनुभव होता है और हमारे ज्ञान की सामग्री संवेदनों से ही निर्मित होती है; बुद्धिवादियों से वह इसमें सहमत है कि सार्वभौम और अनिवार्य सत्य अनुभव से प्राप्त नहीं हो सकते। इन्द्रियाँ हमें ज्ञान की सामग्री देती हैं और मनस् उनको अपनी प्रकृति द्वारा बना दिए गए ढंग से व्यवस्थित करता है। अतएव हमें सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान (बुद्धिवाद) या प्रत्ययों के क्रम का ज्ञान होता है किंतु स्वलक्षणों (things-in-themselves) का ज्ञान नहीं होता (सन्देहवाद)। हमारे ज्ञान की सामग्री अनुभव से प्राप्त होती है (अनुभववाद), किंतु मनस् अपने अनुभवों पर विचार करता है और अपने प्रागनुभव या जन्मजात--यानी बौद्धिक--ढंगों के अनुसार उनकी धारणा करता है (बुद्धिवाद)। फिर भी स्वलक्षणों की सत्ता होती है; हम उन पर विचार कर सकते हैं किंतु उनको आनुभविक जगत के तथ्यों की भाँति जान नहीं सकते। नैतिक चेतनता या व्यावहारिक बुद्धि के लिए ही कारण-प्रसर-काल क्रम के बाहर अन्य जगत की सत्ता, ईश्वर, स्वतन्त्रता और अमरता के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है। यदि नैतिक चेतनता न होती तो वाद-विवाद के लिए ये प्रश्न भी न उठते।

इमैन्युएल कांट का जन्म १७२४ में केनिन्सबर्क में हुआ था। वह एक मोची का लड़का था और उसका पालन पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ था क्योंकि उसके माता पिता पायटिस्ट थे। विद्यार्थी, शिक्षक और लेखक के रूप में उसका लगभग सारा जीवन उसके अपने शहर की चहारदीवारियों में ही बीता था। कालेज में जब वह विश्वविद्यालय की तैयारी कर रहा था (१७३२-४०) उसे रोमीय साहित्य में बड़ी रुचि थी। केनिन्सबर्क विश्वविद्यालय में उसने भौतिक विज्ञान, गणित और ईश्वरवाद का अध्ययन किया (१७४०-४६)। सन् १७४६ से ५५ तक वह केनिन्सबर्क के आस पड़ोस में रहने वाले अनेक कुटुम्बों में शिक्षक रहा, सन् १७५५ में उसे विश्वविद्यालय में नियुक्ति मिल गई जहाँ उसने गणित, भौतिकविज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्वसमीक्षा आचारशास्त्र, भौतिक भूगोल मानव विज्ञान, प्राकृतिक ईश्वरवाद और "दार्शनिक इन्साइक्लोपीडिया" पर व्याख्यान दिए। सन् १७६६ से ७२ तक वह रायल पुस्तकालय का सहायक-पुस्तकाध्यक्ष भी रहा। सन् १७७० में कांट तर्कशास्त्र और तत्वसमीक्षा का प्रोफेसर बना दिया गया और १७९७ तक रहा। बाद में स्वास्थ्य खराब होने से उसे विवश हो अवकाश लेना पड़ा। उसकी मृत्यु सन १८०४ में हुई।

कांट ने अपने प्रारम्भिक काल में विश्वविद्यालयों में प्रधानता रखनेवाले और विद्वतमंडली के बाहर भी सर्वप्रिय हो गए लाइबनित्स-वोल्फीय

दर्शन का अनुकरण किया। १७६०-७० तक वह अँग्रेजी अनुभववाद के प्रभाव में आया; लाक, शैफ्ट्सबरी और तब ह्यूम ने उसको बहुत प्रभावित किया। ह्यूम ने उसको "उसकी रूढ़िवादी नींद से जगाया" जिसको वह स्वयं स्वीकार करता है। सन् १७७० तक वह अपने उस दार्शनिक दृष्टि-कोण तक पहुँच गया जिसके लिए वह विख्यात है और बाद के दस वर्ष उसने अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन में लगाए।

ज्ञान की समस्या

कांट की मूलभूत समस्या ज्ञान की समस्या है : ज्ञान क्या है और कैसे संभव है? मानवी बुद्धि की सीमाएँ क्या हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें मानवी बुद्धि की परीक्षा या आलोचना करनी चाहिए। ज्ञान सदा निर्णय रूप में होता है जिसमें या तो किसी बात को स्वीकार किया जाता है या उससे इनकार किया जाता है। किंतु हर निर्णय ज्ञान नहीं होता; वियोजक (analytic) निर्णय में विधेय केवल उसी बात को स्पष्ट करता है जो उद्देश्य (subject) में पहले से ही विवक्षित रहती है, जैसे पदार्थ प्रपंचित होता है। निर्णय को संयोजक (synthetic) होना चाहिए, उसे विधेय में कुछ जोड़ना चाहिए, उसे हमारे ज्ञान को बढ़ाना चाहिए, उसकी व्याख्या मात्र नहीं करना चाहिए : जैसे सब पदार्थों में गुरुत्वाकर्षण होता है। किंतु सब संयोजक (synthetic) निर्णयों से ज्ञान नहीं मिलता; कुछ अनुभव से प्राप्त होते हैं; वह हमें यही बतलाते हैं कि किसी पदार्थ में अमुक गुण हैं या वह अमुक तरह से क्रिया करता है, वह यह नहीं बतलाते कि उस वस्तु में वही गुण अनिवार्यतः होने चाहिए या उसे उसी तरह ही क्रिया करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में ऐसे निर्णयों में अनिवार्यता नहीं होती; बुद्धि उनको गणित की प्रस्ताव-नाओं की भाँति मानने पर विवश नहीं होती। उनमें सार्वभौमता नहीं होती; चूंकि कुछ श्रेणी की चीजों में कोई विशेष गुण हैं इसलिए वह गुण सब में ही होंगे हम यह नहीं कह सकते। जिन निर्णयों में सार्वभौमता और अनि-वार्यता नहीं होती वे अनुभवाश्रित (a posteriori) निर्णय वैज्ञानिक नहीं होते। ज्ञान होने के लिए संयोजक निर्णय में अनिवार्यता होनी चाहिए : उसका विरोधी निर्णय अविचारणीय होना चाहिए; उसमें सार्वभौमता भी होनी चाहिए यानी उसका कोई अपवाद नहीं होना चाहिए सार्वभौमता या अनिवार्यता का मूल संवेदन या प्रत्यक्ष में न होकर बुद्धि या समझ में होता है; हम बिना अनुभव (और इस अर्थ में प्रागनुभव) के यह जानते हैं कि त्रिकोण के तीनों कोणों का जोड़ १८०° होता है और सदा होगा। अतएव ज्ञान देने के लिए किसी भी अनुभव को प्रागनुभव (a priori) होना चाहिए।

अब हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि ज्ञान प्रागनुभव संयोजक (synthetic-a priori) निर्णयों से निर्मित होता है। वियोजक (analytic) निर्णय सदा प्रागनुभव होते हैं; हम बिना अनुभव के ही यह जानते हैं कि सब प्रपंचित चीजें प्रपंचित होती हैं; इस तरह के निर्णय तादात्म्य (identity) और बाध (contradiction) के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। किंतु उनसे हमारे ज्ञान में वृद्धि नहीं होती। अनुभवाश्रित (a posteriori) संयोजक निर्णय हमारे ज्ञान को तो बढ़ाते हैं किंतु वे निश्चित नहीं होते; उनसे प्राप्त ज्ञान अस्पष्ट, अनिश्चित और संभाव्य ही होता है। हम अपने विज्ञानों में अनिवार्य प्रतिपत्ति (apodictic) की निश्चितता चाहते हैं और ऐसी निश्चितता प्रागनुभव संयोजक निर्णयों में ही होती है।

कांट को ऐसे नियमों के होने में सन्देह नहीं था। ऐसे निर्णय हमें भौतिक विज्ञान, गणित और तत्वसमीक्षा में भी मिलते हैं। कांट सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की तथ्यता को मानता है इसलिए वह यह नहीं पूछता कि प्रागनुभव संयोजक निर्णय संभव हैं या नहीं, किंतु यह पूछता है कि वे कैसे संभव हैं। ऐसे ज्ञान की शर्तें क्या हैं, ऐसे निर्णयों की सत्ता की तार्किक भाव से क्या मान्यता है या उसमें अनिवार्यतः क्या विवक्षित होता है? इसलिए कांट की प्रणाली सैद्धांतिक (dogmatic) है, जैसा कि वह कहता है ज्ञान विषयक धारणा पूरी तरह प्रदर्शनात्मक विज्ञान है, वह प्रागनुभव या शुद्ध विज्ञान है जिसके सत्य अनिवार्य प्रागनुभव सिद्धान्तों पर निर्भर होते हैं। कांट की प्रणाली मनोवैज्ञानिक न होकर तार्किक या हेतुजन्य (transcendental)* है। वह हमसे अपनी चेतनता में ज्ञान की शर्तों की परीक्षा करने को नहीं कहता—कि ज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कैसे उत्पन्न होता है—किंतु यथार्थ ज्ञान को, गणित या भौतिक विज्ञान की प्रस्तावनाओं को मानकर यह पूछने को कहता है कि तार्किक भाव से ऐसी प्रस्तावनाओं की सत्ता की क्या मान्यता होती है। प्रसर (space) के सम्बन्ध या कारण के सम्बन्ध के निर्णयों से या इस तथ्य से कि निर्णय होते हैं, अनिवार्यतः क्या परिणाम निकलता है? संयोजक (synthetic) मनस् के बिना संयोजक निर्णय, प्रसर का प्रत्यक्ष करने वाले मनस् के बिना प्रसरिक (spatial) निर्णय और कारण-कार्य के अनुसार न सोचनेवाले मनस् के बिना कारण-संबंधी निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रणाली का प्रयोग करते हुए कांट मानवी बुद्धि को उसके सब विकल्पों (categories) के साथ प्रयुक्त करता है,

---

*बुद्धि द्वारा ही बुद्धि की परीक्षा करने पर जो कुछ प्राप्त होता है अँग्रेजी शब्द (transcendental) उसी का सूचक है। यह अर्थ 'हेतुजन्य' शब्द से ही अच्छी तरह व्यक्त होता है—अनु०

वह ज्ञान की संभावना और प्रमाण को मान लेता है--यहाँ वह रूढ़िवादी है--किंतु वह इससे विचलित नहीं होता बल्कि वह यह कहता है कि यदि ह्यूम का ज्ञान की संभावना से इनकार करना सच हो तो यह शर्म की बात होगी। यदि बुद्धि की अपनी परीक्षा करने की योग्यता को बुद्धि के इस काम को हाथ में लेने से पहले ही स्थापित किया जाय तो हम कहीं नहीं पहुँच सकते।

समस्या यह है : गणित, भौतिक विज्ञान और तत्वसमीक्षा में प्रागनुभव संयोजक निर्णय (synthetic a priori judgements) कैसे संभव हैं या शुद्ध गणित, शुद्ध भौतिक विज्ञान और शुद्ध तत्वसमीक्षा कैसे संभव है ? इन क्षेत्रों में हम यथार्थ ज्ञान को क्यों और कैसे प्राप्त कर सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें ज्ञान के साधन की परीक्षा करनी पड़ेगी; हमें उसकी शक्ति उसके कार्य, उसकी संभावनाओं और उसकी सीमाओं पर विचार करना होगा। ज्ञान मनस् की मान्यता की अपेक्षा रखता है। हम विचार के विषय के बिना विचार नहीं कर सकते और कोई वस्तु विचार का विषय तभी हो सकती है जब वह इन्द्रियों से प्राप्त हो और मनस् उसको ग्रहण करे या मनस् में संविद् (sensibility) हो। संविद् हमें विषय या पदार्थ या संज्ञि (percepts) देती है (अन्तर्बुद्धि; कांट कभी-कभी उसे अनुभवी अन्तर्बुद्धि भी कहता है)। समझ को इन पदार्थों पर विचार करना चाहिए या उनकी धारणा करनी चाहिए; इससे धारणा (concepts) पैदा होते हैं। संवेदन या प्रत्यक्ष और विचार करना या समझ के बिना ज्ञान असम्भव होगा। ज्ञान की इन दो मान्यताओं में मूलभूत रूप से भेद है किंतु वे एक दूसरे की पूरक हैं। "संज्ञि (percepts) और धारणाओं (concepts) से ही हमारे सारे ज्ञान के मूलतत्व निर्मित होते हैं।" धारणाओं के बिना संज्ञि अंधी होती हैं और संज्ञि (percepts) के बिना धारणाएँ (concepts) निरर्थक होते हैं।" बुद्धि संविद् द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है उसी की व्याख्या कर सकती है। शायद इन दोनों अधिकरणों (faculties) का एक ही मूल हो किंतु हम उसे नहीं जानते।

अब यह प्रश्न कि ज्ञान कैसे संभव है ? दो प्रश्नों में विभाजित हो जाता है : इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कैसे संभव है ? और समझ कैसे संभव है ? पहले प्रश्न का उत्तर हेतुजन्य संवेदन शास्त्र (Transcendental Aesthetic), प्रत्यक्ष के अधिकरण का सिद्धान्त) और दूसरे का हेतुजन्य तर्कशास्त्र (Transcendental logic, धारणाओं और निर्णयों का सिद्धान्त) में दिया गया है। ये दोनों मिलकर हेतुजन्य मूलतत्वों का सिद्धान्त (Transcendental Doctrine of Elements) कहलाते हैं।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की धारणा

पहले हम हेतुजन्य संवेदनशास्त्र(Transcendental Aesthetic) को लें। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या संविद् (sensibility) की तार्किक पूर्वशर्तें क्या हैं? प्रत्यक्ष के लिए संवेदन होने चाहिए (रंग, शब्द, ठोसपन आदि) किंतु संवेदनों मात्र का होना ही ज्ञान नहीं होगा; संवेदन चेतनता का रूपान्तर मात्र और उसमें होनेवाले परिवर्तन ही हैं; वह हमारे अन्दर किसी अन्य चीज द्वारा उत्पन्न केवल आतमपाती (subjective) अवस्था ही हैं। संवेदन को काल और प्रसर (space) के किसी निश्चित स्थान से उद्दिष्ट होना चाहिए; उसका प्रत्यक्ष किसी वाह्य वस्तु या दूसरी वस्तुओं के साथ या किसी पहले या पीछे आनेवाली किसी चीज की भाँति होना चाहिए। हमारे संवेदन प्रसर और काल क्रम में व्यवस्थित होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष या तो पुद्गल (संवेदन) या रूप, (प्रसर और काल) की मान्यता की अपेक्षा रखते हैं। संवेदन ज्ञान की सामग्री (रंग, शब्द, वजन) का निर्माण करते हैं जिसे संविद् (sensi-bitity) प्रसर और काल के रूपों में व्यवस्थित करती है और इस भाँति वे संज्ञि (precepts) हो जाते हैं। आत्मा संवेदनों को ग्रहण ही नहीं करती वरन् अपनी अन्तर्बुद्धि के अधिकरण (faculty) द्वारा उनका प्रत्यक्ष भी करती है: वह अपने से बाहर प्रसर और काल क्रम में रंगों को देखती और शब्दों को सुनती है। संविद् में प्रसर और काल का प्रागनुभव प्रत्यक्ष करने की शक्ति होती है; मनस् इस तरह निर्मित है कि वह पदार्थों के न होने पर भी प्रसर और काल का प्रत्यक्ष करता है। मनस् पदार्थों को ही प्रसर या काल में नहीं देखता किंतु स्वयं प्रसर और काल को भी देखता है। इस अर्थ में शुद्ध प्रत्यक्ष (pure perception) हो सकता है।

संवेदनों को प्रसर और काल में व्यवस्थित करने की क्रिया या रूप स्वयं संवेदन नहीं हो सकते। वे अन्तर्बुद्धि के अनुभवाश्रित रूप न होकर आत्मा की प्रकृति में ही प्रागनुभव रूप से विवक्षित रहते हैं। काल अन्तर-इन्द्रिय (inner-sense) का रूप है: हमें अपनी मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान कालक्रम में आनुपूर्व्य से ही हो सकता है। प्रसर (space) वाह्य-इन्द्रिय का रूप है: इन्द्रियों पर आघात करनेवाली चीज को हम प्रसरिक (spatial) भाव से ही जान सकते हैं। किंतु इन्द्रियों को प्राप्त या उपक्षिप्त(referred) हर वस्तु चेतनता का रूपान्तर होने से अन्तर-इन्द्रिय पर आश्रित होती है इसलिए काल सब प्रत्ययों और दृश्य पदार्थों की अनिवार्य शर्त है।

प्रसर और काल वास्तविकताएँ या अपने लिए सत्ता रखनेवाली चीजें नहीं हैं। वे वस्तुओं में उपलब्ध गुण या सम्बन्ध भी नहीं हैं। वे हमारी संविद्

के वस्तुओं को जानने के तरीके हैं; वे इन्द्रियों की क्रियाएँ या रूप हैं; यदि जगत में प्रसर और काल का प्रत्यक्ष करने वाला कोई न होता तो जगत प्रसरिक और कालिक न होता। "विचारमय विषयी (subject) को हटा लेने पर सारा मूर्त जगत तिरोहित हो जाया क्योंकि जगत हमारे विषयी (subject) की संविद् (sensibility) प्रतिभास मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" हम प्रसर के न होने की कल्पना कभी नहीं कर सकते, हाँ हम पदार्थ रहित प्रसर के बारे में सोच सकते हैं। हम प्रसर रूप में ही प्रत्यक्ष और कल्पना करने पर बाध्य हैं। प्रसर दृश्य-पदार्थों की अनिवार्य पूर्वशर्त होने से अनिवार्य प्रागनुभव प्रत्यय है। यह कांट द्वारा हेतुजन्य (transcendental) या तत्वसमीक्षागत (metaphysical) कही जाने वाली प्रणाली का उदाहरण है। हम प्रसर के बिना पदार्थों को नहीं सोच सकते; हम प्रसर को पदार्थों के बिना सोच सकते हैं, अतएव प्रसर हमारे पदार्थों के प्रत्यय या दृश्य-जगत कीं अनिवार्य पूर्वशर्त को मनस् का प्रागनुभव रूप होना चाहिए। यह कथन काल पर भी लागू होता है।

अब इस प्रश्न का कि शुद्ध गणित कैसे संभव है? उत्तर मिल गया: गणित में हमें यथार्थ ज्ञान या संयोजक प्रागनुभव (synthetic a priori) निर्णय या स्वयंसिद्ध सत्य मिलते हैं क्योंकि मनस में प्रसर और काल के रूप होते हैं और वह अपनी प्रकृतिवश प्रसर और काल क्रम में प्रत्यक्ष और कल्पना करने पर बाध्य होता है।

किंतु प्रसर और काल संविद् की शर्त मात्र हैं, वे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के रूप हैं, वे वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने के हमारे तरीके हैं इसलिए वे प्रत्यक्ष की गई वस्तुओं या दृश्य पदार्थों पर उपयोजित होने पर ही सत्य होते हैं स्वलक्षणों (things- in-themselves) या प्रत्यक्ष-निरपेक्ष वस्तुओं पर उपयोजित होने से नहीं। हम उन्हें अपने प्रत्ययों की दुनियाँ से बाहर उपयोजित नहीं कर सकते। किन्तु यह बात हमारे अनुभव ज्ञान की निश्चितता को नहीं छूती; चाहे प्रसर और काल स्वलक्षणों में विवक्षित हों चाहे वस्तुओं के प्रत्यक्ष के अनिवार्य रूप मात्र हों इससे ज्ञान पर कुछ असर नहीं पड़ता। हम जिन चीजों को देखते हैं वे स्वलक्षण नहीं हैं जैसा कि हम उन्हें समझते हैं, और जिन सम्बन्धों का हमें प्रत्यक्ष होता हैं वे स्वलक्षणों के सम्बन्ध नहीं होते। यदि हम विषयी को या संविद् को ही हटा लें तो सारे गुण प्रसर और काल में वस्तुओं के सारे सम्बन्ध स्वयं प्रसर और काल भी तिरोहित हो जाएँगे। तब वे निजरूप में-दृश्य-पदार्थ (phenomena-in-themselves) न रहकर चेतनता के रूपान्तर के तौर पर केवल हमारे संवेदन मात्र रह जाएँगें यानी हम अपने संवेदनों का वाह्य निर्देशन नहीं कर सकेंगे।

हम यह नहीं जानते कि संविद् से अलग स्वलक्षण (things-in-themselves) क्या हैं, कौन वस्तु हमारे अन्दर संवेदन उत्पन्न करती है, हमारी इन्द्रियों पर प्रभाव न करने वाली वस्तु अपने आप में क्या है (What it is independently of its effect on our sense organs)। जब कोई चीज आँख से टकराती है तो हम रंग देखते हैं, कान से टकराती है तो शब्द सुनते हैं। ये सब हमारे अन्दर संवेदन हैं। चेतनता पर प्रभाव करने से अलग चीज अपने आप में क्या है यह हम नहीं जानते। हम तो उन चीजों का प्रत्यक्ष करने के विचित्र तरीके को ही जानते हैं जो मनुष्य के लिए अनिवार्य हैं, शायद और प्राणियों के लिए न हो। इस अर्थ में प्रसर और काल आत्मपाती (subjective) या आदर्श (ideal) हैं। वे इस अर्थ में वास्तविक या विषयपाती (objective) होते हैं कि सारे दृश्यपदार्थ प्रसर और काल क्रम में व्यवस्थित होते हैं : काल की शर्त पूरा किए बगैर हमें किसी पदार्थ का अनुभव नहीं हो सकता। सब वस्तुएँ वाह्य दृश्य-पदार्थ होने के नाते प्रसर में सहविस्तार्ण (coextensive) होंगी।

कुछ चीजों के बिना हमारा यथार्थ ज्ञान असम्भव होगा। मनस् को कोई न कोई चीज उपलब्ध होनी चाहिए, मनस् में उससे प्रभावित होने या उसकी अनुमुद्राओं (impressions) को ग्रहण करें सकने की क्षमता होनी चाहिए। किंतु यदि हम अनुमुद्राओं मात्र को ही ग्रहण करें या चेतनता के रूपान्तर का अनुभव करें तो हम अपने तक ही रह जाएँगें और विषयपाती (objective) जगत का प्रत्यक्ष नहीं कर सकेंगे। हमारे संवेदनों को विषयपाती होना चाहिए; उनको बाहर से उद्दिष्ट होना चाहिए, प्रसर में उनका प्रक्षेपण होना चाहिए--उन्हें प्रसर और काल क्रम में व्यवस्थित होना चाहिए। मानवी मनस् के पास प्रत्यक्ष के इन्हीं तरीकों के होने से हीं विषयपाती जगत की सत्ता हो सकती है।

समझ (Understanding) की धारणा

किंतु यह पर्याप्त नहीं है। असंबद्धित संज्ञि (percepts) ज्ञान नहीं होतीं। प्रसर और काल में वस्तुओं के प्रत्यक्ष मात्र से ज्ञान नहीं होता। सूर्य के प्रत्यक्ष मात्र और पत्थर के गर्म होने से इस बात को नहीं जाना जा सकता कि सूर्य पत्थर को गर्म करता है। इन दो अनुभवों को विचार में एक खास तरह से सम्बन्धित करने पर ही मैं इस निर्णय तक पहुँच सकता हूँ कि पत्थर को गर्म करने का कारण सूर्य है। वस्तुओं को सम्बद्धित होना चाहिए; उनकी धारणा होना चाहिए। संयोजक चेतन मनस् समझ या बुद्धि के बिना ज्ञान या निर्णय असम्भव है। बुद्धि ग्रहण ही नहीं करती वह क्रिया भी करती है।

अन्तबुद्धि (Intuition) विषयात्मक है, समझ धारणात्मक है: (Intuition is perceptual, understanding conceptual) वह धारणाओं (concepts) द्वारा विचार करती है। हमें अपने संज्ञि (percepts) को समझने योग्य बनाना चाहिए अर्थात् उन्हें धारणाओं (concepts) के अन्तर्गत लाना चाहिए, साथ ही साथ धारणाओं (concepts) को भी संविद् के योग्य बनाना चाहिए अर्थात् उन्हें प्रत्यक्ष का विषय देना चाहिए (give them an object in perception)। समझ अपने आप किसी चीज का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती; इन्द्रियाँ स्वयं किसी वस्तु पर विचार नहीं कर सकतीं। ज्ञान इन दोनों के मेल से ही सम्भव है। संविद् के नियमों के विज्ञान को संवेदन शास्त्र (Aesthetic) और समझ के नियमों के विज्ञान को तर्क-शात्र (logic) कहते हैं।

समझ संज्ञि (percepts) की विभिन्न रूपों से धारणा और उन्हें संबंधित करती है; उन्हें समझ की शुद्ध धारणा या विकल्प (categories) कहा जाता है क्योंकि वे अनुभव से प्राप्त न होकर प्रागनुभव होते हैं। समझ अपनी अभिव्यक्ति निर्णय में करती है, समझ निर्णय का अधिकरण (faculty) है; विचार करना ही निर्णय करना है। इसलिये उसके धारणा करने के तरीके निर्णय करने के तरीके हैं और निर्णय के इन तरीकों की खोज के लिए हमें अपने निर्णयों का विश्लेषण करना चाहिए और उनके प्रकट होने के रूपों की परीक्षा करनी चाहिए। चूंकि तर्कशास्त्र ने यह पहले से ही कर दिया है इस लिए हम उसकी सहायता ले सकते हैं। निर्णयों की तार्किक तालिका विकल्पों (categories) की खोज में पथ प्रदर्शन करेगी। निर्णयों की तालिका में जितने संभाव्य निर्णय हैं मनस् की उतनी ही शुद्ध धारणाएँ या विकल्प (categories) भी हैं। इस विषय से सरोकार रखनेवाले तर्कशास्त्र के भाग को हेतुजन्य वियोजक (Transcedental Analytic) कहते हैं।

कांट बारह तरह के निर्णयों की खोज करता है: (१) सार्वभौम या पूर्णव्याप्ति बोधक निर्णय (Universal judgement; सब मनुष्य मरणशील प्राणी हैं); (२) अपूर्ण व्याप्ति बोधक (particular) निर्णय (कुछ मनुष्य विद्वान हैं) (३) एकात्मक (singular) निर्णय (नैपोलियन फ्रांस का सम्राट् था)। इन निर्णयों में हम वस्तुओं की धारणा परिमाण (quantity)-- पूर्णता (totality), अनेकत्व (pluralitp), एकता (unity)-- के विकल्पों (categories) से करते हैं। (४) विधेयात्मक (affirmative) निर्णय (गर्मी गति का एक रूप है); (५) निषेधात्मक (negative) निर्णय (मनस् प्रपंचित नहीं है); (६) अपरिमित (unlimited) निर्णय (मनस् निष्प्रपंचित है)। इनमें गुण --सत्ता (reality), अभाव (negation), परिमितता (limitation)--के विकल्प की अभिव्यक्ति होती है। (७)

निरपेक्ष (categorical) निर्णय (पदार्थ भारी होता है); (८) हेतुफलाश्रित (hypothetical) निर्णय (अगर बादल आएँगे तो वर्षा होगी) (९) वैकल्पिक (disjunctive) निर्णय (द्रव्य या तरल है या ठोस)। ये निर्णय सम्बन्ध (rela ion) के विकल्प (category)––अन्तर्निहित और अवस्थित (Inherence and subsistence) जैसे द्रव्य और संयोग (accident), कार्य-कारण भाव (causality and dependence), अन्योन्य भाव (reciprocity)––की अभिव्यक्ति करते हैं। (१०) उपपद्य (Problematic) निर्णय (यह जहर हो सकता है); (११) प्रतिपत्ति (assertory) निर्णय (यह जहर है); (१२) आवश्यक प्रतिपत्ति (apodictic) निर्णय (हरेक कारण का कार्य होना चाहिए)। ये निर्णय प्रकार (modality) के विकल्प––संभावना-असंभावना. सत्ता-असत्ता, अनिवार्यता-आपातिकता (contingency)––की अभिव्यक्ति करते हैं।

निर्णयों का प्रमाण (Validity of Judgements)

समस्या उत्पन्न होती है कि हमें मनस् के इन रूपों का वस्तुओं पर उपयोजन करने का क्या अधिकार है? उनकी विषयता का प्रमाण (objective validity) क्या है? उनका मूल शुद्ध मानसिक होने पर भी अनुभव में उनका प्रयोग किया जाता है। हमारे विकल्प (categories) इस अर्थ में अनुभव-स्वतंत्र हैं कि वे अनुभव से प्राप्त नहीं होते। हम अपने विकल्पों को अनुभव में, पदार्थमय जगत में देखते हैं। यह कैसे संभव है; ऐसा करने का हमें क्या अधिकार है। न्यायज्ञ (jurists) वैधानिक व्यापार में अधिकार और दावे के सबूत को निगमन (deduction) कहते हैं। यहाँ हमें विकल्पों के हेतुजन्य (transcendental) निगमन की, उनके प्रमाण या न्यायौचित्य की आवश्यकता है। कांट इस बात का सबूत देता है कि उनके बिना चेतन अनुभव असम्भव है। विकल्पों (categories) द्वारा क्रिया करनेवाली आत्मज्ञान (apperception) की संयोजक एकता (synthetic unity), 'एक' और मिलानेवाली चेतनता या आत्म-चेतनता, विचारों की ऐसी मौलिक प्रागनुभव क्रिया के बिना ज्ञान या अनुभव-सम्मत जगत नहीं हो सकता। समझ निर्णय करना है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष किए गए अनेक पदार्थ एक आत्म-चेतनता (आत्मज्ञान की एकता) में एकत्रित होते हैं। कुछ खास तरीकों (प्रसर और काल) से प्रत्यक्ष और कुछ खास तरीकों (विकल्पों) से निर्णय और विचार करनेवाले बौद्धिक मनस् के बगैर अनुभव के पदार्थों का सार्वभौम और आवश्यक ज्ञान नहीं हो सकता। मनस् अपनी प्रकृति (प्रागनुभव रूप) से ही इस तरह व्यवस्थित है कि वह इन्हीं खास तरीकों से प्रत्यक्ष और निर्णय करता है। इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत

और प्रसर और काल क्रम में प्रत्यक्ष किए हुए पदार्थों पर समझ की शुद्ध धारणाओं या विकल्पों (categories) का उपयोजन ही ज्ञान है। अनुभव विकल्पों द्वारा ही संभव होता है, यही उनका एकमात्र औचित्य है।

पानी के जमने का मामूली सा प्रत्यक्ष भी असम्भव होगा यदि मनस् दो अवस्थाओं (तरल और सघन) को काल में सम्बन्धित न जाने और उनको विचार की 'एक' क्रिया में सम्बद्धित न करे। निर्णय तक पहुँचने के लिए आत्मज्ञान (apperception) की संयोजक एकता प्रत्यक्ष करने और जान सकने के लिए भी आवश्यक है। हमारे विचारों में क्रिया करने वाली सहज क्रियाएँ, प्रत्यभिज्ञा (recognition), प्रतिकृति (reproduction) और कल्पना इन्द्रियानुभव में भी क्रिया करती हैं और इन दोनों में वही विकल्प (categories) भी क्रिया करते हैं। हमारे अनुभव का जगत विकल्पों द्वारा संभव होता है; दृश्य जगत का क्रम या प्रकृति, हम जिस रूप में उसका प्रत्यक्ष करते हैं, हमारी बुद्धि के रूपों पर आधारित है, हमारी बुद्धि दृश्य जगत के क्रम या प्रकृति पर आधारित नहीं है जैसा कि अनुभववादी मानते हैं। कांट यह इसी अर्थ में कहता है कि समझ प्रकृति पर अपने नियमों का आरोप करती है; दर्शन को दी हुई कांट की यही कोपरनिकसीय क्रांति (Copernican Revolution) है।

चूंकि मनस् अपने नियम प्रकृति पर आरोपित करता है इसलिए हम प्रकृति के सार्वभौम रूपों को प्रागनुभव तौर से जान सकते हैं। हम यह जान सकते हैं कि प्रत्यक्ष-जगत सदा कुछ ज्ञेय तरीकों से सम्बद्धित रहेगा, हमारे अनुभव पदार्थों के प्रसर और काल के स्थाई क्रम में होंगे, वस्तुएँ द्रव्य और संयोग (accident), कार्य और कारण भाव से सम्बन्धित होंगी और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करेंगी। इसलिए हम वस्तु जगत पर विकल्पों का उपयोजन करने में गलती नहीं कर सकते। किंतु यह याद रखना चाहिए कि उनका उचित उपयोजन केवल दृश्य जगत या यथार्थ या संभव अनुभव के क्षेत्र में ही हो सकता है; इस क्षेत्र के बाहर उनका प्रयोग अलीक है; हम अनुभव के बाहर नहीं जा सकते, हमें इन्द्रियातीत या स्वलक्षणों (things-in-themselves) का धारणात्मक (conceptual) ज्ञान नहीं हो सकता। इससे यह भी नतीजा निकलता है कि हम प्रागनुभव तौर से अनुभव की सामग्री को नहीं जान सकते, हम यह नहीं जान सकते कि हमें कौन सा विशिष्ट संवेदन (रंग, शब्द, वजन आदि) मिलेगा। हम यही कह सकते हैं कि वे चाहे जो कुछ भी हों किंतु मनस् उनको अपने अनिवार्य नियमों के अनुसार ही व्यवस्थित करेगा।

किंतु विकल्प (categories) तो बौद्धिक होते हैं फिर उनका उपयोजन संज्ञि (percepts) या दृश्य जगत पर कैसे हो सकता है? कांट के अनुसार

शुद्ध धारणाओं और इन्द्रिय-संज्ञि (sense-percepts) में कोई समानता नहीं है, वे सर्वथा विजातीय हैं। तब हम उनको एक साथ कैसे ला सकते हैं? शुद्ध धारणाओं और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के बीच किसी तीसरी चीज या उनमें मध्यस्थता करनेवाले प्रत्यय (mediating idea) को होना चाहिए; उसको शुद्ध (लौकिकता के बगैर) और साथ ही साथ इन्द्रियगम्य भी होना चाहिए। कांट इस चीज को हेतुजन्य व्यवस्था (transcendental schema) कहता है जिसका उपयोग अनुभवों को सम्बन्धित करने के लिए किया जाता है। इस उपयोग से समझ व्यवस्थित हो जाती है। जिन बातों की यहाँ अपेक्षा है उनकी पूर्त्ति काल-रूप (time-form) ही करता है : वह शुद्ध और इन्द्रियगम्य दोनों ही है। हमारे सारे प्रत्यय काल-रूप के अन्तर्गत हैं—हम अपने अनुभवों को काल में व्यवस्थित करते हैं और वे काल में ही प्रकट होते हैं। इसलिए यदि बुद्धि को संविद् (sensibility) को प्रभावित करना है, यदि उसे अनुभवों को सम्बन्धित करना है तो उसे काल-रूप का उपयोग करना चाहिए। बुद्धि शुद्ध काल-रूप द्वारा अपनी धारणाओं, विकल्पों और अपने सम्बन्धित करने के एकरूप तरीकों की मूर्त्ति बनाने का प्रयत्न करती है (tries to image), वह उनकी कल्पना कुछ निश्चित काल-सम्बन्धों (time-relations) में करती है। उदाहरणार्थ वह लगातार एक को एक से जोड़ती है या काल को सजातीय क्षणों की श्रृंखला समझती है, इस तरह उसे 'संख्या' की उपलब्धि होती है। संख्या की यह क्रिया—एक में एक जोड़ना—काल के रूप (form of time) में अभिव्यक्त परिमाण के विकल्प की व्यवस्था (schema) है। काल का एक क्षण अनन्यता (singularity), अनेक क्षण विशिष्टता (particularity) और सब क्षण सार्वभौमता (universality) को अभिव्यक्त करते हैं। परिमाण के विकल्प को अभिव्यक्ति काल-श्रृंखला (time-series) की व्यवस्था (schema) में की जाती है। बुद्धि काल में घटने वाले संवेदनों यानी काल में विषय (content) की कल्पना भी करती है या वह काल में किसी भी चीज की कल्पना नहीं करती। इस तरह बुद्धि गुण (quality) के विकल्प का चित्र बनाती है : गुण की धारणा की अभिव्यक्ति काल-विषय (time-content) की व्यवस्था (schema) में होती है। बुद्धि विषय (content) को काल में सब परिवर्तनशील चीजों में ध्रुव रहनेवाली चीज की भाँति देखती है। बुद्धि इस ढंग से द्रव्य के विकल्प की कल्पना करती है। वह वास्तविक वस्तु को ऐसी चीज समझती है जिसके ऊपर काल में अन्य वस्तु अपरिहार्य रूप से अनुसरित होती रहती है : इस ढंग से बुद्धि कारण विकल्प का प्रत्यक्ष करती है या वह यह समझती है कि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के गुणकाल में अपरिहार्य रूप से साथ साथ प्रकट होते हैं : इस ढंग से उसे

पारस्परिक क्रिया (reciprocal action) का विकल्प उपलब्ध होता है। द्रव्य, कारण और पारस्परिक क्रिया की अभिव्यक्ति काल-व्यवस्था (ध्रुवता, आनुपूर्व्य और सहगामिता) में होती है। या बुद्धि यह विचार करती है कि किसी चीज की सत्ता किसी समय (संभावना का विकल्प), किसी निश्चित समय (actuality; क्रियाकारित्व) या हर समय (अनिवार्यता) होगी। संभावना, क्रियाकारित्व (actuality) और अनिवार्यता के विकल्पों की अभिव्यक्ति काल-व्यापकता (time-comprehension) की व्यवस्था (schema) में होती है।

स्वलक्षणों (things-in-themselves) का ज्ञान

जैसा कि पहले कहा जा चुका है हम अनुभव से परे नहीं जा सकते या हमें अतीन्द्रिय वस्तुओं, स्वलक्षणों (things-in-themselves) और चेतनता पर प्रभाव डालने के ढंग से अतिरिक्त वस्तुओं का प्रागनुभव ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है और इन्द्रियों द्वारा निज-स्वलक्षणों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता : इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में हम उनके उस तरीके को ही जानते हैं जिसमें वे चेतनता को प्रतिभासित होती हैं। बुद्धि भी उनका प्रत्यक्ष या अन्तर्ज्ञान नहीं कर सकती। हमें बौद्धिक अन्तर्ज्ञान नहीं होता, हम अपने मनसाक्ष (minds eye) में वस्तुओं का एक ही दृष्टि में साक्षात् नहीं कर सकते। बुद्धि तर्क विषयक (discursive) है, वह अन्तर्ज्ञान नहीं कर सकती। विकल्पों का स्वलक्षणों पर उपयोजन कर हम उन्हें न्यायोचित नहीं ठहरा सकते; उदाहरणार्थ हम इसका सबूत नहीं दे सकते कि हरेक चीज की सत्ता एक चेतन जगत में द्रव्य के रूप में है। हम ऐसे स्वलक्षण का विचार कर सकते हैं, हम यह कह सकते हैं कि उस स्वलक्षण पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का एक भी विधेय लागू नहीं हो सकता और यह कि वह प्रसर और काल से परे है और अपरिवर्तनशील है। स्वलक्षण पर एक भी विकल्प लागू नहीं हो सकता क्योंकि हमारे पास उससे संवादिता रखनेवाली किसी चीज को जानने का साधन नहीं है। यदि प्रत्यक्ष हमें उपयोजन करने का मौका न दे तो हम यह कभी नहीं जान सकेंगे कि द्रव्य की धारणा से संवादिता रखनेवाली किसी वस्तु की सत्ता है भी या नहीं। स्वलक्षण के बारे में प्रत्यक्ष हमें अंधकार में छोड़ देता है।

स्वलक्षण की धारणा अज्ञेय है। किंतु यह धारणा बाधित नहीं है क्योंकि हम इस बात का दावा नहीं कर सकते कि केवल लौकिक व्यवस्था ही प्रत्यक्ष का संभव रूप (form) है। हमें संवेदनीय वस्तुओं का ही संवेदनीय ज्ञान हो सकता है, स्वलक्षणों का नहीं। बुद्धि जिस जिस बात को सोचती है इन्द्रियाँ उनमें से हरेक बात को नहीं जान सकतीं। अतएव इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय

स्वलक्षण की धारणा (जिसको बौद्धिक अन्तर्ज्ञान से जान सकने की संभावना है) एक परिमित करनेवाली धारणा (limiting concept) है; वह इन्द्रियों से कहती है : यहाँ तुम्हारी सीमा है, तुम और आगे नहीं जा सकते, यहाँ तुम्हारा अधिकार क्षेत्र समाप्त हो जाता है। तुम केवल लौकिकता या दृश्य जगत को ही जान सकते हो; अलौकिक तक, चेतन तक, तुम्हारी पहुँच नहीं है।

मैं चीजों को उनके स्वलक्षण में न जानकर उन्हें जैसी वे प्रतिभासित होती हैं वैसा जानता हूँ। इसी तरह मैं अपने अहम् के प्रतिभास को ही जानता हूँ उसके स्वलक्षण को नहीं। मुझे अपनी सत्ता और कर्मता का बोध है। किंतु अपनी सत्ता का बोध होना अपने अहम् का ज्ञान होना नहीं है। जानने का अर्थ है संज्ञि (percepts) या जानने के विषयों की सत्ता मानना। मैं अपने अहम् को नहीं देखता, मुझे उसका बौद्धिक अन्तर्ज्ञान भी नहीं होता; मैं अपने आप को प्रत्यक्ष या काल क्रम में, अनुसरित होनेवाली अवस्थाओं की भाँति देखता हूँ। यद्यपि मैं अपने अहम् को प्रत्यक्ष करने के अर्थ में नहीं जान सकता तथापि मैं उस पर विचार कर सकता हूँ। कांट की ज्ञान विषयक सारी धारणा ऐसे ही अहम् के विचार पर आधारित है। आत्मज्ञान (apperception) की संयोजक एकता (synthetic unity) अहम् का आत्म-चेतन होना ही है। आत्म-चेतन अहम् के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, किंतु प्रत्यक्ष करने के अर्थ में हम इस अहम् को नहीं जान सकते।

अब यह स्पष्ट है कि हमें किसी ऐसी वस्तु का जिसका प्रत्यक्ष न हो सके सार्वभौम और अनिवार्य प्रागनुभव ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव अनुभव से परे स्वलक्षणों (things-in-themselves) पारमार्थिक वस्तुओं—संकल्प, अमरता और ईश्वर—का यथार्थ ज्ञान देनेवाली तत्वसमीक्षा नहीं हो सकती। किंतु ऊपर दी गई युक्तियों के अनुसार हम दृश्य जगत की व्यवस्था का प्रागनुभव विज्ञान बना सकते हैं। गणित की अनिवार्यता प्रसर-काल के रूपों पर निर्भर है, ज्यामिति प्रागनुभव प्रसर (space) प्रत्यक्ष पर आश्रित है और अंकगणित प्रागनुभव काल-प्रत्यक्ष की अभिव्यक्ति करनेवाली संख्या की धारणा पर आधारित है। प्राकृतिक विज्ञान विकल्पों पर आधारित है। प्राकृतिक विज्ञान में हम द्रव्य और संयोग (accident), कार्य-कारण, अन्तर्क्रिया आदि की चर्चा करते हैं। ह्यूम और अनुभववादी गलत हैं। गणित और भौतिक विज्ञान का हमें सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान हो सकता है किंतु यह ज्ञान दृश्य-वस्तुओं और उनके रूप और व्यवस्था का ही होता है। हमें स्वलक्षणों (things in-themselves) का ज्ञान नहीं हो सकता; यहाँ ह्यूम सही है। स्वलक्षणों की सत्ता है; उनके बिना संवेदन की व्याख्या नहीं हो सकती। दृश्य वस्तुओं के पीछे किसी ऐसी वस्तु को होना चाहिए जिसका प्रतिभास होता है,

जो अमानसिक है, जो हमारी इन्द्रियों पर आघात करती है और हमारे ज्ञान कीसामग्री जुटाती है। कांट ऐसे स्वलक्षणों की सत्ता में क्षणभर भी संदेह नहीं करता। 'क्रीटीक' के दूसरे संस्करण में वह उसकी सत्ता का सबूत देता है (प्रत्ययवाद का खण्डन; Refutation of Idealism)। किंतु इस बात पर जोर देते हुए भी कि उसकी सत्ता है और वह हमारे संवेदनों का आश्रय है कांट अपनी व्यवस्था की प्रकृति की लाचारी से एक अनिश्चित सी चीज बना देता है। वह एक परिमित धारणा या इन्द्रिय-ज्ञान के पथ का रोड़ा बन जाती है : इन्द्रियों द्वारा हम अतीन्द्रिय वस्तु को नहीं जान सकते। किंतु फिर कहा जाता है कि यद्यपि हम उसे जान नहीं सकते पर उसे सोच सकते हैं; हम उस पर से विकल्पों (categories) का आरोप हटा सकते हैं (we can deny categories of it)। या हम उस पर विकल्पों का उपयोजन कर सकते हैं किंतु इस तरह उपयोजन करने से विकल्पों में विषयपाती (objective) प्रमाण नहीं होता। यह एक सुलझाने योग्य समस्या थी और कांट ने इस पर और ध्यान भी दिया और उसके उत्तराधिकारियों ने, इसी समस्या को उत्साह के साथ सुलझाने की चेष्टा की जैसा कि हम आगे देखेंगे।

तत्व समीक्षा की असम्भावना

कांट का अभिप्राय 'सन्देहवादी' ह्यूम के विरुद्ध यह दिखाना था कि हमें 'गणित और भौतिक विज्ञान में ज्ञान हो सकता है और लाइबनित्स-वोल्फीय 'रूढ़िवादियों' के विरुद्ध यह दिखाना था कि हमें तत्वसमीक्षा में अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता और इस अर्थ में तत्वसमीक्षा छद्म-विज्ञान (pseudo-science) है।* अब हम उसकी समस्या के दूसरे भाग को लेंगे। समझ केवल उसी को जान सकती है जिसका अनुभव होता है; किंतु बुद्धि समझ की सीमाओं के बाहर जाकर प्रत्यक्ष का विषय न होनेवाली अतीन्द्रिय वस्तुओं की धारणा करने की चेष्टा करती है जिन पर हम विचार मात्र ही कर सकते हैं। बुद्धि को विचार और संज्ञि (percepts) में भ्रान्ति होती है और इस तरह वह तरह तरह की अनिश्चितताओं, संदिग्ध अर्थों, भ्रान्त अनुमानों और बाधों में पड़ जाती है। अनुभवातीत वस्तुओं की तत्वसमीक्षा में यही होता है। जो प्रश्न अनुभव में सार्थक हैं वही अनुभवातीत में निरर्थक हो जाते

---

*वह तत्वसमीक्षा को (१) ज्ञान की धारणा के अध्ययन, (२) प्रकृति के नियमों और रूपों का निरपेक्ष ज्ञान, (३) नैतिकता के नियमों या रूपों का निरपेक्ष ज्ञान, (४) कुछ अंश तक संभावना रखनेवाली विश्व की हेतुफलाश्रित व्याख्या आदि इन कई अर्थों में संभव मानता है।

हैं। दृश्य जगत पर पूरी तरह लागू होनेवाली कारण-कार्य, द्रव्य और संयोग (accidents) की धारणाओं को जब पारमार्थिक वस्तुओं पर लागू किया जाता है तो वे निरर्थक हो जाती हैं। तत्वसमीक्षा प्रायः इस बात को भुलाकर दृश्य जगत और पारमार्थिक जगत में विभ्रम कर बैठती है और दृश्य जगत में सार्थक धारणाओं को पारमार्थिक वस्तुओं पर लागू करने लगती है। इस तरह वह भ्रम में पड़ जाती है। कांट इस भ्रम को हेतुजन्य भ्रम (Transcendental Illusion) कहता है क्योंकि इसमें समझ के सिद्धान्त विवक्षित रहते हैं। वह अनुभव के क्षेत्र में लागू होने वाले सिद्धातों को आन्तरिक (immanent) सिद्धान्त और इस क्षेत्र का उल्लंघन करनेवाले सिद्धान्तों को 'अनुभवातीत' (transcendent) सिद्धान्त, बुद्धि की धारणाएँ या प्रत्यय (Ideas) कहता है। संवेदनों पर लागू होनेवाले आत्मपाती (subjective) सिद्धान्तों को विषयपाती (objective) समझकर उन्हें स्वलक्षणों पर लागू करना बुद्धि का अपरिहार्य भ्रम है। कांट इस तरह के अनुभवातीत निर्णयों के भ्रमों की खोज, जिससे वे हम धोखा न दे सकें, हेतुजन्य द्वन्दवाद (Transcendental Dialectic) में करता है। प्राकृतिक और अपरिहार्य होने से इन भ्रमों को नष्ट नहीं किया जा सकता। यद्यपि हम उनसे छुटकारा नहीं पा सकते तथापि उनको समझ लेने से उनके धोखे से बच सकते हैं।

तत्वसमीक्षा की सावधानी से की गई परीक्षा से बहुत से हेत्वाभास (fallacies) मिलते हैं जैसे संदिग्ध अर्थ (equivocations), असंगत अनुमान (non-sequiturs) और बाध (contradictions)। जैसा कि हम देख चुके हैं समझ मनस् या बुद्धि के अधिकरण (faculty) का नाम है जिसके द्वारा हम अपने अनुभवों को नियमों या सिद्धान्तों के अनुसार एकरूपता में संबंधित करके अनेक निर्णयों तक पहुँचते हैं। यह निर्णय और भी अधिक व्यापक प्रागनुभव धारणाओं के अन्तर्गत लाए जा सकते हैं। समझ के नियमों को उच्च सिद्धान्तों के अन्तर्गत लाने का काम बुद्धि करती है जो मनस् का अधिकरण है। इस अर्थ में बुद्धि समझ के निर्णयों को एकता देती है। किंतु यह उच्च सिद्धान्त इसलिए हैं ताकि समझ की सुविधा के लिए वे धारणाओं के प्रयोग को न्यूनतम संभव संख्या तक ले आएँ। ऐसी सर्वोपरि बुद्धि विषयों (objects) पर न तो नियमों का आरोप करती है और न ही इस बात की व्याख्या करती है कि हमें उनका ज्ञान कैसे होता है।

इस प्रकार बुद्धि बौद्धिक मनोविज्ञान में सारे मानसिक व्यापारों को आतमा के प्रत्यय (Idea of a soul); बौद्धिक सृष्टि-शास्त्र (cosmology) में सारी भौतिक घटनाओं को प्रकृति के प्रत्यय और बौद्धिक ईश्वरवाद में सारी

घटनाओं को ईश्वर के प्रत्यय के अन्तर्गत लाने की चेष्टा करती है। इसलिए ईश्वर की धारणा सर्वोपरि प्रत्यय, सर्वोपरि एकता और अन्य सब चीजों को धारण करनेवाली निरपेक्ष समष्टि (absolute whole) है। ऐसे प्रत्यय अनुभवातीत होते हैं, उनकी अनुभवात्मक महत्ता नहीं होती। इसलिए हम मूर्त रूप में एक निरपेक्ष पूर्णता के प्रत्यय को कभी उपक्षिप्त नहीं कर सकते; इस समस्या का समाधान नहीं है। किंतु समझ का निर्देशन करने के लिए इन प्रत्ययों का अपना महत्व है, वे समझ को ज्ञान की खोज में आगे बढ़ाते हैं।

(क) बौद्धिक मनोविज्ञान (Rational Psychology)—अतएव इस नतीजे पर पहुँचना उचित ही है कि विषयी, जीव या ज्ञाता, के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक वह एक चेतनता में केन्द्रित न हो। ज्ञान तभी हो सकता है जब किसी निर्णय में उद्देश्य और और विधेय को सोचनेवाला विषयी वही रहे। किंतु हमें यह अनुमान करने का अधिकार नहीं है कि ऐसे ज्ञाता की निरपेक्ष सत्ता है और वह सारे परिवर्तन में समान रहनेवाला निरवयव (simple), एक, आत्मतादात्म्यक आत्म-द्रव्य है। इस तरह चिंतन करने से बौद्धिक मनोविज्ञान पूर्ववाक्यों से असंगत नतीजे निकालता है; वह जीव या विषयी और आत्मा शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में करता है और इस तरह एक ऐसे हेत्वाभास में पड़ जाता है जिसे कांट न्यायविरोधी तर्क (paralogism) कहता है। बौद्धिक मनोविज्ञान हमारे ज्ञान को न बढ़ाने के साथ साथ हमें अनात्म भौतिकवाद या निराधार अध्यात्मवाद को अपनाने से भी रोकता है। यहाँ बुद्धि हमें निरर्थक चिंतन से बचाकर अपने आत्म-ज्ञान का नैतिक उपयोग करने का इशारा करती है। नैतिक नियम मनुष्य को औचित्य की चेतनता मात्र को जगत की और किसी चीज से अधिक मूल्यवान समझना और उसे उसके प्रत्यय में सत्ता रखनेवाले एक उत्तम जगत का योग्य नागरिक बनना सिखाता है।

(ख) बौद्धिक सृष्टिशास्त्र (Rational Cosmology)—बुद्धि दृश्य जगत की विषयपाती शर्तों (objective conditions) को एक परम शर्त या अनपेक्षित (unconditioned) से आत्मसात् करने की चेष्टा करती है। हम प्रकृति की सम्पूर्णता या विश्व का प्रत्यय बनाते हैं और या तो उसकी धारणा एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में करते हैं जिस पर सारा दृश्य जगत आधारित है या हम दृश्य जगत में ही अनपेक्षित (unconditioned) की खोज करते हैं। इन दोनों दशाओं में हम कार्य-कारण मूलक (cosmological) प्रत्यय बनाते हैं और अपने आपको अनेक तरह के प्रतिवादों (antitheses) में फँसा देते हैं जिनको कांट अधिकार विरोध (antinomies) कहता है

अधिकार विरोध (antinomies) युक्त्याभासित (sophistical) प्रस्तावनाएँ होती हैं जिनको न तो पुष्टिकरण की आशा होती है और न ही अनुभव से खण्डन होने का डर। वाद (thesis) बाधरहित होता है और अपना मूल बुद्धि की अनिवार्यता में रखता है किंतु दुर्भाग्यवश प्रतिवाद (antithesis) अपने पक्ष में भी उतने ही तर्कसंगत और अनिवार्य आधारों को प्रस्तुत कर सकता है।

इस तरह के चार अधिकार-विरोध (antinomies) हैं जिसमें वाद और प्रतिवाद दोनों साबित किए जा सकते हैं। यह साबित किया जा सकता है कि (१) जगत का आदि है और वह अनादि या शाश्वत भी है, कि जगत प्रसर में परिमित है और अपरिमित भी है; (२) कि वस्तुएँ असीम सीमा तक विभाज्य हैं और नहीं भी हैं और उनमें ऐसे निरवयव अंश (परमाणु) हैं जिनका विभाजन नहीं हो सकता; (३) कि जगत में स्वतंत्रता है और जगत की प्रत्येक घटना प्रकृति के नियमों के अनुसार होती है; (४) कि जगत में उसके अंश या कारण की हैसियत से निरपेक्ष अनिवार्य सत्ता है या जगत के अन्दर या बाहर उसके कारण की हैसियत से ऐसी सत्ता नहीं है। इनमें से किसी ओर का पक्ष लोग सत्य की तार्किक कसौटी से न लेकर अपनी रुचि के अनुसार लेते हैं। अपनी सही रुचि को जाननेवाला हरेक विचारशील व्यक्ति वाद (thesis) में कोई व्यावहारिक रुचि जरूर रखता है। जगत का आदि है, विचार करने वाला विषयी निरवयव और अविनाशी है, जगत को निर्मित करनेवाली सारी व्यवस्था का मूल एक मौलिक सत्ता है जो हरेक चीज की एकता और उद्देश्य का आधार है—ये सब नैतिकता और धर्म के कुछ आधार हैं। प्रतिवाद या अनुभववाद इन आधारों को हमसे छीन लेता है। यदि जगत से भिन्न कोई मौलिक सत्ता न हो, यदि जगत का कोई और सृष्टा न हो, यदि हम अपने संकल्प में स्वतंत्र न हों और यदि पुद्गल की भाँति हमारी आत्मा विभाज्य और विनाशशील हो तो हमारे सारे नैतिक प्रत्ययों और सिद्धान्तों की सत्यता नष्ट हो जाती है और वे अपने सैद्धान्तिक आधार हेतुजन्य प्रत्ययों के साथ विनष्ट हो जाते हैं।

यहाँ एक सैद्धान्तिक रुचि भी है। यदि हम वाद में हेतुजन्य प्रत्ययों को मानें तो हम अनपेक्षित से शुरू करते हुए अपेक्षित पदार्थों की शर्तों की पूरी श्रृंखला की प्रागनुभव धारणा बना सकते हैं। प्रतिवाद यह काम नहीं करता। किंतु यदि अनुभववादी मान्यताओं को अस्वीकार करके ही सन्तुष्ट हों तो उनके सिद्धांतों के दावे में नम्रता आ सकती है। हमें अपनी व्यावहारिक रुचियों पर उनके भाव से अपनी बौद्धिक मान्यताओं और आस्था को नहीं छोड़ देना चाहिए। बल्कि वे बौद्धिक अन्तर्ज्ञान या विज्ञान नहीं कहे जाएँगे क्योंकि सच्चे अनुमानिक

ज्ञान का विषय अनुभव ही होता है। किंतु अनुभववाद स्वयं रूढ़िवादी बन जाता है और अन्तर्ज्ञान के क्षेत्र में से बाहर जानेवाली चीजों को अस्वीकार कर बुद्धि की व्यावहारिक रुचियों पर गहरा आघात करता है।

अधिकार-विरोधी (antinomies) की कठिनाइयों को कांट यह संकेत देकर हल करने की चेष्टा करता है कि प्रतिवाद दृश्य जगत के लिए और वाद पारमार्थिक जगत के लिए सत्य हैं। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ प्रसर-काल मय हमारे जगत का काल में न तो आदि है और न ही प्रसर में परिमितता। किंतु अप्रसरिक जगत भी हो सकता है जिसमें निरवयव और आध्यात्मिक अस्तित्वों की सत्ता हो। यह कोई बात नहीं है कि चूंकि एक जगत में परिमितता असम्भव है इसलिए वह दूसरे जगत में भी असम्भव होगी। हम यही जानते हैं कि सच्चे जगत का आदि हो सकता है, वह ईश्वरकृत और परिमित हो सकता है। किंतु फिर भी हमें आध्यात्मिक सत्ताओं को प्रसर में और प्रसरिक चीजों को अनुभवातीत क्षेत्र में खोजने का कोई अधिकार नहीं है।

कारण सम्बन्धी अधिकार-विरोध (antinomy) का हल भी इसी तरह किया गया है। दृश्य जगत में हरेक चीज का कारण होता है और प्रत्येक वस्तु अपने ही समान वस्तु की अपेक्षा रखती है। हमें इस कारण-श्रंखला के अंत तक जाना चाहिए। फिर भी हम इस बात की धारणा कर सकते हैं कि दृश्य जगत की अपेक्षित वस्तुएँ पारमार्थिक अपेक्षा भी रख सकती हैं; दृश्य जगत की श्रंखला के बाहर भी कोई ऐसी चीज हो सकती है जिस पर दृश्य जगत की अपेक्षित वस्तुएँ निर्भर हों। हमारी बुद्धि की प्रकृति ही ऐसी है कि इन्द्रिय सापेक्ष जगत में हम स्वतंत्र कारण को कभी नहीं पा सकते, इसलिए हमें अनुभव से स्वतंत्रता का प्रत्यय नहीं मिल सकता। यह हेतुजन्य प्रत्यय है क्योंकि बुद्धि इसे अनुभव से स्वतंत्र होकर उत्पन्न करती है। यदि इन्द्रिय सापेक्ष जगत का कारण प्राकृतिक कारण मात्र ही हो तो यह देख सकना आसान है कि प्रत्येक घटना किसी दूसरी की अनिवार्य अपेक्षा करेगी, हरेक क्रिया प्रकृति की किसी घटना का अनिवार्य प्राकृतिक परिणाम होगी। हेतुजन्य स्वतंत्रता से इनकार करना व्यावहारिक या नैतिक स्वतंत्रता को नष्ट कर देगा। व्यावहारिक स्वतंत्रता की यह मान्यता है कि यद्यपि कोई घटना नहीं हुई तथापि उसे होना चाहिए। अतएव इससे यह नतीजा निकलता है कि उसको अपने दृश्य कारण की बिल्कुल अपेक्षा नहीं है और हमारा संकल्प उसे उसके प्राकृतिक कारण से अलग यहाँ तक कि उनकी शक्ति और प्रभाव के विरुद्ध भी स्वतंत्र रूप से उत्पन्न कर सकता है। हेतुजन्य स्वतंत्रता के संभव होने पर व्यावहारिक स्वतंत्रता भी संभव है: पशुओं के संकल्प के विरुद्ध हमारा संकल्प इन्द्रियों के वशीभूत नहीं भी हो सकता है।

इस तरह स्वतंत्रता और प्राकृतिक अनिवार्यता का समन्वय हो सकता है। हम निजरूप-वस्तुओं को दृश्य जगत का कारण मान सकते हैं। स्वलक्षणों का प्रत्यक्ष तो नहीं होता किंतु उनकी क्रियाएँ, दृश्य जगत, अटूट कारण श्रृंखला में व्यवस्थित और दृष्टिगोचर होती हैं। वही और उसी घटना को यदि प्रसर काल के दृश्य जगत का अंश समझा जाय तो वह कारण श्रृंखला की एक कड़ी होगी; यदि उसे अप्रत्यक्षगत स्वलक्षण की क्रिया समझा जाय तो वह इन्द्रिय सापेक्ष जगत में कार्यों (effects) को अपने आप उत्पन्न करनेवाले स्वतंत्र कारण की क्रिया होगी। एक दृष्टि से वह घटना प्रकृति का कार्य होगी, दूसरी दृष्टि से स्वतंत्रता का परिणाम होगी। दूसरे शब्दों में इस कार्य का अनुभवाश्रित कारण होना चाहिए किंतु वह अनुभवाश्रित कारण स्वयं किसी पारमार्थिक या स्वतंत्र कारण का कार्य हो सकता है किंतु इससे प्राकृतिक कारणों से उसका सम्बन्ध नहीं टूटता।

मनुष्य पर घटित करने से इन बातों का निम्नलिखित फल होगा। इन्द्रिय और समझ द्वारा देखने पर मनुष्य प्रकृति का अंश है; इस अर्थ में वह अनुभवाश्रित जगत का प्राणी है और कारण-कार्य श्रृंखला की एक कड़ी है। किंतु यथार्थ में मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है। उस पर इन्द्रिय-रूपों (sense-forms) का उपयोजन नहीं हो सकता; वह कर्मों को उत्पन्न कर सकता है। और मनुष्य को अपनी इस शक्ति का बोध है इसलिए उस पर उत्तरदायित्व भी है। दृश्य जगत की कोई घटना अपना आदि स्वयं नहीं हो सकती, उसका कारण होना चाहिए। यह बात हम बुद्धि के लिए नहीं कह सकते, हम यह नहीं कह सकते कि बुद्धि ने जिस अवस्था में संकल्प को निर्धारित किया था वह अवस्था अपनी पूर्व अवस्था पर निर्भर थी। दृश्य जगत की चीज न होने से बुद्धि संविद् (sensibility) की शर्तों (प्रसर-काल-कारण) से परे है। इसलिए हम उसके कारण की प्राकृतिक व्याख्या नहीं कर सकते, वह स्वयं हर चीज का कारण है। बुद्धि या मनुष्य जैसा कि वह अपने यथार्थ रूप में है अपने सारे इच्छित कामों की ध्रुव शर्त है। अनुभवाश्रित भाव बौद्धिक भाव की ऐन्द्रिक व्यवस्था है, वह मनुष्य को मूर्त और दृश्य जगतीय बनाने का ढँग है (the empirical character is only the sensuous schema of the intellectual character, that is, the way we image man, phenomenalize him)।

इससे कांट का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। हरेक इच्छित काम शुद्ध बुद्धि का सीधा परिणाम है; अतएव मनुष्य स्वतंत्र कर्त्ता है, वह प्राकृतिक कारणों की श्रृंखला की कड़ी नहीं है। किंतु यदि काम को दृश्य जगत की घटना समझा जाय तो वह सर्वथा निर्धारित होगा। मनुष्य अपने आप में स्वतंत्र कर्त्ता है, वह कार्यों को उत्पन्न करता है; किंतु जब मनस् इन कामों को देखता है

तो वह उनको कारण के ताने बाने में बुन उनके पहले और पीछे किसी चीज को रखकर उनकी किसी विशेष प्रवृत्ति, प्रत्यय, शिक्षा, प्राकृतिक रुझान आदि का कार्य (effect) बना देता है। किंतु उस काम का यथार्थ कारण बुद्धि है, क्रियाएँ मनुष्य के बौद्धिक भाव के कारण होती हैं। हम यह समझते हैं कि बुद्धि पर इन्द्रियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

कांट "क्रीटीक आव् प्योर रीजन" में स्वतंत्रता की सत्ता या उसकी संभावना को स्थापित नहीं करता। उसका प्रयोजन केवल यही दिखाना है कि बुद्धि स्वयं प्रत्यय को उत्पन्न करती है, वही कारण श्रृंखला को प्रारम्भ करती है और साथ साथ समझ को कारण के नियम देती है या अपने आपको अधिकार-विरोधों (antinomies) में उलझा लेती है। कांट यह भी साबित करना चाहता है कि प्रकृति स्वतंत्र कारण के प्रत्यय का विरोध नहीं करती।

अनिवार्य और आपातिक (contingent) सत्ता के अधिकार-विरोधों (antinomy) को कांट इस तरह हल करता है। दृश्य जगत में बुद्धि किसी चीज को अनिवार्य या स्वतंत्र मानने से इनकार करती है, हरेक चीज आपातिक और एक दूसरे पर निर्भर है। किंतु इससे इस बात का खण्डन नहीं होता कि यह सम्पूर्ण दृश्य जगत किसी स्वतंत्र अनुभव-निरपेक्ष बुद्धिमय सत्ता पर आधारित हो सकता है जो स्वयं दृश्य जगत की संभावना का आधार है। हम इन्द्रिय सापेक्ष सम्पूर्ण जगत को किसी बुद्धिमय सत्ता की अभिव्यक्ति मान सकते हैं जो द्रव्य और अनिवार्य सत्ता है और जिसके बिना किसी वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती और जो अपनी सत्ता के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखती। हमें यह नहीं कहना चाहिए कि चूंकि दृश्य जगत की व्याख्या के लिए बुद्धिमय सत्ता व्यर्थ है इसलिए वह असम्भव है। ऐसी सत्ता असम्भव हो सकती है किंतु समझ के बारे में हम जो कुछ सत्य होता देख चुके हैं उससे यह नतीजा नहीं निकलता कि वह असम्भव है। दृश्य जगत पर हम इन्द्रिय-सापेक्ष ढंग से ही विचार कर सकते हैं किंतु विचार करने का अकेला वही ढंग नहीं है। हम अन्य सत्ता की व्यवस्था, स्वलक्षणों की व्यवस्था, इन्द्रिय निरपेक्ष विचार वस्तुओं (thought-things) की धारणा भी कर सकते हैं। हम इन्द्रियों को प्रतिभासित होनेवाली वस्तुओं से अलग ऐसी वस्तुओं की धारणा भी कर सकते हैं जिन पर हम विचार कर सकते हैं। हम किसी बुद्धिमय चीज को मानने पर विवश हैं जिस पर दृश्य जगत आधारित है किंतु ऐसे पदार्थों के बारे में हम जानते कुछ नहीं। हम उनकी धारणा ही बना सकते हैं और उनको अनुभव की धारणाओं के साधर्म्य से ही समझ सकते हैं।

(ग) बौद्धिक ईश्वरवाद (Rational theology)—हम एक अनुभवाश्रित

जगत का प्रत्यय बनाते हैं और वस्तुओं की इस व्यवस्था या दृश्य जगत की सत्ता अपने से बाहर समझते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि वह हमारा प्रत्यय है और हम उसका अस्तित्व मान बैठते हैं। हम उसका सारी वास्तविकता लिए हुए व्यक्तिगत वस्तु की भाँति उपक्षेप करते हैं; हम उसको सबसे यथार्थ, सर्वोपरि, निरपेक्ष, शाश्वत और निरवयव वास्तविकता समझते हैं। कांट इस प्रत्यय को हेतुजन्य ईश्वरवाद का आदर्श कहता है। सबसे यथार्थ सत्ता का आदर्श भी प्रत्यय मात्र है। हम पहले उसको दृश्य जगत का विषय बना लेते हैं फिर उसका अस्तित्व मान बैठते हैं और तब उसे मानवी रूप दे देते हैं।

ईश्वर की सत्ता के केवल तीन प्रमाण हैं, भौतिक-ईश्वरवादी (physico-theological), कार्यकारण मूलक (cosmological) और तत्वमूलक (ontological)। ये सब व्यर्थ हैं। पहले तत्वमूलक (ontological) युक्ति को लीजिए : सारी वास्तविकता को लिए हुए किसी चीज की धारणा में उसकी सत्ता का होना विवक्षित नहीं होता। सबसे यथार्थ चीज की धारणा से उसकी सत्ता भी होना ध्वनित नहीं होता : यहाँ हम एक बिल्कुल स्वच्छन्द प्रत्यय से संवादिता रखनेवाले पदार्थ की सत्ता मान लेते हैं। कार्यकारण मूलक (cosmological) युक्ति में हम संभव अनुभव (जगत) के प्रत्यय से एक अनिवार्य सत्ता को मान लेते हैं। ऐसी सत्ता को ईश्वर रूप में ही माना जा सकता है। हमें इस नतीजे पर पहुँचने का कोई अधिकार नहीं है कि चूंकि हम विचार करते हैं इसलिए निरपेक्ष सत्ता का होना आवश्यक है। यह यथार्थ में तत्वमूलक (ontological) युक्ति ही है। यह युक्ति आपातिक (contingent) से कारण का अनुभव करती है। ऐसा अनुमान दृश्य जगत के बाहर निरर्थक है किंतु (cosmological) युक्ति में उसका अनुभवातीत प्रयोग किया जाता है जो वर्जित है। कांट का कहना है कि इस युक्ति में अनेक तार्किक मान्यताएँ हैं। कारणों की एकता की खोज में बुद्धि की सहायता करने के लिए सारे परिणामों के कारण के तौर पर ईश्वर की सत्ता मानी जा सकती है किंतु उसकी अनिवार्य सत्ता मानना आवश्यक प्रतिपत्ति (apodictic) की निश्चितता का निंद्य आश्वासन है। वस्तुओं के अन्तिम आधार के लिए मानी जाने वाली निरपेक्ष अनिवार्यता मानवी बुद्धि का सच्चा गर्त है।

भौतिक-ईश्वरवादी (physico-theological) युक्ति में जगत की प्रकृति और व्यवस्था से सर्वोपरि सत्ता का अनुमान किया जाता है। यह युक्ति भी असफल है। इस युक्ति के अनुसार हम जगत की अनेकता, व्यवस्था और सुन्दरता से उसके कारण का अनुमान करने पर बाध्य होते हैं। ऐसे कारण को हमारे संभव अनुभवों से अधिक पूर्णता रखनी चाहिए। हमें इस पूर्णता की धारणा एक द्रव्य की भाँति ईश्वर में करने से कोई चीज नहीं रोकती।

यह युक्ति आदरयोग्य है और यह मानवी बुद्धि-संगत बड़ी पुरानी और स्पष्ट युक्ति है। यह उद्देश्यों को प्रकट करती है और इसका पर्यवसान प्रकृति में होता है जिसको शायद हम नहीं देखते। किंतु फिर भी हम इस युक्ति की आवश्यक प्रतिपत्ति की निश्चितता के दावे को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। यह साधर्म्य पर निर्भर युक्ति है, यह मानवी कला और प्रकृति की उत्पत्तियों की समानता से यह अनुमान करती है कि जिस तरह मानवी कला का कारण समझ और संकल्प होता है उसी तरह समझ और संकल्प प्रकृति का भी कारण है। हम मनुष्य द्वारा निर्मित चीजों के ही कारण और कार्य को पूरी तरह जानते हैं और यदि हमें कारण को नाम देना हो तो उन्हीं के साधर्म्य से दे सकते हैं। यदि बुद्धि को अपने ज्ञात कारण को छोड़कर व्याख्या के अज्ञात्, अस्पष्ट और अप्रदर्शन योग्य सिद्धान्तों को लेना पड़े तो यह क्षम्य नहीं है। इस युक्ति से जगत के निर्माता की ही स्थापना हो सकती है जो इतनी सामग्री को देखकर बहुत घबरा जायगा। यह युक्ति उस जगत-सृष्टा की स्थापना नहीं करती सारा जगत जिसका प्रत्यय हो। भौतिक-ईश्वरवादी युक्ति अनुभव से कार्य कारण-मूलक (cosmological) युक्ति तक ले जाती है जो छद्मवेश में केवल तत्व-मूलक (ontological) युक्ति है। तत्वमूलक (ontological) युक्ति ही, यदि उसकी संभावना हो तो, एकमात्र युक्ति है।

अनुभव के क्षेत्र के बाहर कारण-सिद्धान्त न तो अर्थ रखता है और न ही उसका उपयोजन हो सकता है। इसलिए जब तक हम नैतिक नियमों को आधार नहीं बनाते या उनसे शासित नहीं होते तब तक बौद्धिक ईश्वरवाद नहीं हो सकता। समझ के सारे संयोजक (synthetic) सिद्धान्तों का उपयोजन केवल आन्तरिक भाव (immanently) से अर्थात् दृश्य जगत में ही हो सकता है। ईश्वर की सत्ता तक आने के लिए हमें उनका उपयोजन हेतुजन्य (transcendental) रूप से करना पड़ता है और हमारी समझ इसके लिए तैयार नहीं है। यदि हम अनुभव की सीमाओं के बाहर भी कारण का उपयोग करें तो भी हम ईश्वर की धारणा नहीं बना सकते क्योंकि हम ईश्वर की सत्ता का अनुमान करने के लिए सब संभव कार्यों (effects) के उच्चतम कार्य (effect) का अनुभव कभी नहीं करते। हेतुजन्य ईश्वरवाद से एक निषेधात्मक लाभ यह है कि वह बुद्धि पर सदा नियंत्रण लगाए रहता है और सारी नास्तिक देववादी या मानव-केन्द्रित मान्यताओं का बहिष्कार करता है।

अनुभव में तत्व समीक्षा का उपयोग

यद्यपि हेतुजन्य प्रत्यय एक अप्रतिहत भ्रम को उत्पन्न करते हैं किंतु वे बुद्धि के लिए समझ के विकल्पों की भांति ही नैसर्गिक हैं। समझ के विकल्प

सत्य के द्योतक होते हैं; वे हमारी धारणाओं की उनके विषयों से सहमति दिखाते हैं। यदि हम सही ढंग से खोज सकें तो हरेक अधिकरण (faculty) का अपना प्रयोग है। हेतुजन्य प्रत्ययों का आन्तरिक (immanent) प्रयोग होता है; किंतु जब उन्हें यथार्थ वस्तुओं की धारणा मान लिया जाता है तो उनका उपयोजन अनुभवातीत और भ्रामक हो जाता है। विषयों की धारणा न होने से उनका संविहित (constitutive) प्रयोग नहीं है; उनका प्रयोग केवल नियमनात्मक (regulative) है, वे बुद्धि को किसी उद्देश्य की ओर उन्मुख करते हैं: जिस तरह विकल्प विषयों की अनेकता में एकता लाते हैं उसी तरह वे भी धारणाओं की अनेकता को एकता देते हैं। प्रत्यय द्वारा बुद्धि हमारे ज्ञान को व्यवथित करती है और एक सिद्धान्त द्वारा उसको सम्बन्धित करती है। यह व्यवस्थित एकता तार्किक ही है; बुद्धि को एकता देते रहना चाहिए; व्यवस्थित एकता एक प्रणाली (method) है। प्रणाली के तौर पर उसकी तार्किक और आत्मपाती (subjective) अनिवार्यता है, विषयपाती (objective) अनिवार्यता नहीं है। बहुत से तथाकथित वैज्ञानिक सिद्धांत प्रत्यय ही हैं; वे निरपेक्ष सत्य न होकर कल्पनात्मक (hypothetical) महत्ता ही रखते हैं प्रागनुभव भाव से हम वास्तविकता के रूपों को ही जान सकते हैं कि वह प्रसरिक और कालिक है और वस्तुएँ कारण-भाव से सम्बन्धित हैं। किंतु मूलभूत कारणों, शक्तियों या द्रव्यों, या ऐसी एक ही शक्ति, कारण या द्रव्य की सत्ता काल्पनिक ही है। हम इस तरह की एकता को आवश्यक रूप से नहीं मान सकते, किंतु बुद्धि की खातिर हमें सदा उसकी (एकता की) खोज करनी चाहिए जिससे ज्ञान में व्यवस्था आ सके। "आवश्यकता से अधिक सिद्धान्तों को नहीं होना चाहिए", इस कथन में दार्शनिक प्रकृति में उपर्युक्त एकता को मान लेते हैं।

प्रकृति के कुछ विद्यार्थी (विशेष रूप से काल्पनिक) उसकी एकता और उसकी विभिन्नता में सादृश्य खोजने पर अधिक जोर देते हैं; दूसरे (जो मुख्यतया अनुभववादी हैं) प्रकृति को जातियों (species) में विभक्त करने पर तुले रहते हैं। बाद की प्रवृत्ति एक तार्किक सिद्धान्त पर आधारित है जिसका उद्देश्य व्यवस्थित पूर्णता है। हरेक वर्ग (genus) की विभिन्न जातियाँ होती हैं और हरेक जाति में उपजातियाँ होती हैं। बुद्धि किसी जाति को अपने आप में निम्नतर नहीं मानने देती। इसलिए सजातीयता (homogeneity) और उल्लेखन (specification) के नियम हैं जो अनुभव से नहीं मिलते। जाति और उपजाति की मध्यस्थ जातियों की भी संभावना होती है। जातियों की अविच्छिन्नता (continuity) का नियम यह है: एक से दूसरे तक संक्रमण विच्छिन्न रूप से न होकर भेद के सूक्ष्मतर अंशों से होता है। यह

नियम प्रकृति के हेतुजन्य नियम (प्रकृति की अविच्छिन्नता के नियम) की अपेक्षा रखता है जिसके बिना हो सकता है कि समझ प्रकृति के मार्ग के विपरीत जाकर गुमराह हो जाय! किंतु रूपों की यह अविच्छिन्नता भी केवल प्रत्यय मात्र ही है; अनुभव में उससे संवादित कोई पदार्थ नहीं है; प्रकृति में जातियाँ वस्तुतः विभक्त होती हैं। यह नियम समझ का निर्देशन सामान्य रूप से करता है, उसका किसी वस्तु विशेष से प्रसंग नहीं होता। दोनों सिद्धान्तों (एकता और भेद) को आसानी से मिलाया जा सकता है किंतु जब तक हम उन्हें विषयपाती (objective) ज्ञान समझते हैं तब तक वे सत्य के मार्ग में बाधक बने रहते हैं।

प्रत्ययों में विषयपाती सत्यता एक खास अर्थ में ही होती है; इस अर्थ में नहीं होती कि हम अनुभव में उनसे संवादिता रखनेवाली वस्तु पा सकते हैं। अनुभव में हम सर्वोच्च वर्ग (genus) या निम्नतर जाति या असंख्यक मध्यस्थ संक्रमक-जातियों को नहीं देख सकते। उनमें विषयपाती सत्यता इस अर्थ में होती है कि उनका विषय समझ होती है और वे उस समझ को नियम देते हैं। वे समझ के अनुकरण के लिए मार्ग या प्रणाली की रूपरेखा बनाते हैं; वे कहते हैं: सर्वोच्च वर्ग (genus) और निम्नतर जातियों की खोज में सदा लगे रहो। इस तरह अनुभव के विषयों पर उनका अपरोक्ष प्रभाव पड़ता है; वे समझ की प्रक्रियाओं में एकरूपता या दृढ़ता लाते हैं।

ईश्वर की सत्ता के प्रत्यय का उद्देश्य केवल यही है कि हमारी बुद्धि के अनुभवगत प्रयोग में व्यवस्थित एकता बनी रहे। हमारे अनुभव के विषयों के आधार या कारण का प्रत्यय हमें अपने ज्ञान को व्यवस्थित करने में सहायता देता है। मनोवैज्ञानिक, कार्यकारणमूलक (cosmological) और ईश्वरवादी प्रत्ययों से संवादिता रखनेवाली न तो कोई वस्तु होती है और न ही उसका गुण, किंतु प्रत्यय में ऐसी वस्तु की मान्यता से हम किसी बाध के बिना अपने ज्ञान को व्यवस्थित करने और बढ़ाने की ओर अग्रसर होते हैं। अतएव ऐसे प्रत्ययों के अनुसार चलना बुद्धि का अनिवार्य उसूल है। अपने तथ्यों को एकता देने के लिए हमें मनोविज्ञान में अपनी सारी आन्तरिक घटनाओं को इस तरह सम्बन्धित करना चाहिए मानो हमारी आत्मा (कम से कम इस जीवन में) वैयक्तिक तादात्म्य रखनेवाला कोई स्थाई निरवयव द्रव्य हो। सृष्टि-शास्त्र (cosmology) में हमें श्रृंखला अपरिमित है और उसमें पहली और सर्वोच्च कड़ी नहीं है यह मानकर (आन्तरिक और वाह्य) सारी प्राकृतिक घटनाओं की शर्तों की कभी पूरी न होने वाली खोज करनी चाहिए। ईश्वरवाद में हमें यह मानकर कि अनुभव निरपेक्ष एकता देता है हरेक चीज को संभव अनुभव के सम्बन्ध में देखना चाहिए (किंतु वह एकता इन्द्रियों के

जगत पर निर्भर है और सदा उसकी अपेक्षा रखती है)। किंतु साथ-साथ हमें उसको इस तरह देखना चाहिए मानो सारी लौकिकता (इन्द्रिय-जगत) की पूर्णता का उससे बाहर सर्वोपरि और निरपेक्ष आधार--स्वतंत्र, मौलिक औरसृजनात्मक बुद्धि--है। इस सबका यह अर्थ नहीं है कि आतमा की आन्तरिक घटनाओं का निष्पन्न एक निरवयव विचारशील द्रव्य से किया जाय; इसका यह अर्थ है कि इन घटनाओं की निष्पत्ति एक निरवयव सत्ता के प्रत्यय के अनुसार एक दूसरे से की जाय अर्थात् इन घटनाओं को वैज्ञानिक ढंग से देखा जाय किंतु उनमें एकता है इस प्रत्यय को सदा ध्यान में रक्खा जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि जगत की व्यवस्था और उसकी एकता की निष्पत्ति सर्वोपरि चेतनता से की जाय किंतु कारण के प्रत्यय का प्रयोग इस तरह किया जाय जिससे बुद्धि को जगत में कारण-कार्य के सम्बन्धित करने के लिए अच्छे से अच्छा निर्देशन मिल सके और यह बुद्धि के सन्तोष के लिए ही हो।

ये प्रत्यय या सिद्धान्त मस्तिष्क की कल्पनाएँ न होकर बहुत लाभदायक और अनिवार्य हैं। प्रत्यय को कोई विषय दिए बिना (without giving the Idea some object), उसको विषयपाती बनाए बिना, हम व्यवस्थित एकता को नहीं सोच सकते। किंतु ऐसे विषय का अनुभव कभी नहीं होता, उसको एक समस्या की भाँति संभाव्य रूप से मान लिया जाता है। व्यवस्थित एकता के आश्रय के लिए, किसी केन्द्र बिन्दु की ओर और उससे बढ़ने के लिए हमें ईश्वर को मानना पड़ता है। यही विचार आत्म-द्रव्य के प्रत्यय पर भी लागू होते हैं। उसको स्वलक्षण नहीं समझना चाहिए, हम उसके बारे में कुछ नहीं जान सकते; वह केवल एक ऐसी चीज है जिसे हम अपने विचारों का आधार बना सकते हैं; वह एक बिन्दु है जिससे हम अपनी चेतनता की सारी अवस्थाओं को उद्दिष्ट कर सकते हैं। यदि हम प्रत्यय को प्रत्यय मात्र ही समझें तो हम मूर्त घटनाओं (जो सर्वथा भिन्न हैं) के अनुभवीय नियमों और अन्तर-इन्द्रिय (inner sense) को उपलब्ध वस्तुओं की व्याख्या में परिभ्रान्त नहीं होंगे, हम आत्मा के उत्पादन, विनष्टि और पुनरुज्जीवन (palingenesis) की कोई रेतीली कल्पना को नहीं मानेंगे।

मानवी ज्ञान संज्ञि (percepts) से प्रारम्भ होता है, धारणाओं तक जाता है और प्रत्ययों में समाप्त हो जाता है। इन तीनों तत्वों के लिहाज से उसमें ज्ञान का प्रागनुभव मूल होता है। पूर्ण आलोचना से यह पता चलता है कि इन तत्वों के लिहाज से बुद्धि अपने कल्पनात्मक प्रयोग में संभव अनुभव के क्षेत्र से परे कभी नहीं जा सकती।

प्रकृति में उद्देश्य (teleology) का उपयोग

बुद्धि प्रकृति के मनन् में उद्देश्य या प्रयोजनवादी (teleological) प्रत्यय

का उपयोजन करती है। कांट "क्रीटीक आव् जजमेंट" में इस प्रत्यय की आलोचना बड़ी सावधानी से करता है। "क्रीटीक आव् जजमेंट" में सौंदर्य-निर्णय की प्रकृति पर भी विचार किया गया है। समझ प्रकृति की पूर्णता की धारणा प्रकृति के अवयवों की संगामी गतिशील शक्तियों के कार्य (effect) की भाँति करती है। आवयविक (organic) वस्तुओं में अवयव (parts) अवयवी (whole) पर आधारित और रूप या योजना या अवयवी के प्रत्यय से निर्धारित जान पड़ते हैं। हरेक अवयव साधन भी है और वह अवयवी को संभव बनाने के लिए अवयवी के प्रत्यय से निर्धारित होता है। यहाँ फिर एक अधिकार-विरोध (antinomy) और द्वन्द (dialectic) है :—सारी भौतिक वस्तुओं का सृजन यांत्रिक नियमों से संभव है : यह वाद (thesis) है; कुछ भौतिक वस्तुओं का सृजन यांत्रिक नियमों से संभव नहीं है : यह प्रतिवाद है। यदि हम इन सिद्धान्तों को संविहित (constitutive) न मानकर नियमनात्मक (regulative) मानें तो यह बाध दूर हो जाता है। नियमनात्मक अर्थ में वाद हमें भौतिक प्रकृति में यांत्रिक कारणों की खोज करने को कहता है जहाँ भी वे संभव हों; प्रतिवाद हमें कुछ बातों में (और प्रकृति की सम्पूर्णता में भी) जहाँ यांत्रिक व्याख्या पर्याप्त नहीं लगती लक्ष्यात्मक (final) कारणों या उद्देश्यों की खोज करने को कहता है। इन सिद्धान्तों से यह ध्वनित नहीं होता कि हम उनकी व्याख्या इसी भाँति करते हैं, कि कुछ प्राकृतिक चीजों की यांत्रिक व्याख्या नहीं हो सकती या उनकी व्याख्या केवल यांत्रिक कारण से ही हो सकती है। मानवी बुद्धि यांत्रिक कारणों की खोज में निरत रहकर प्राकृतिक उद्देश्य को कभी नहीं खोज सकती। एक ही चीज की भौतिक-यांत्रिक श्रृंखला और प्रयोजनवादी (teleological) श्रृंखला का एकीभाव एक ही सिद्धात या प्रकृति के अज्ञेय आन्तरिक आधार में करना असम्भव नहीं है। हम अपनी बुद्धि की प्रकृति, कांट यहाँ उसे विमर्शात्मक (reflective) निर्णय कहता है, से आवयविक (organic) जगत को उद्देश्यात्मक समझने पर बाध्य हैं; किंतु अनुभव में हम ऐसे उद्देश्य को नहीं पाते और न ही हमारे पास उसको देख सकने के लिए बौद्धिक अन्तर्ज्ञान है। हम किसी अंधे अचेतन उद्देश्य को नहीं मान सकते क्योंकि यह hylozoism हो जायगा जिससे सारे प्राकृतिक दर्शन की मौत हो जायगी; ऐसे अन्ध उद्देश्य को हम अपने अनुभव में भी नहीं पाते। हम जिन उद्देश्यों को जानते हैं वे मनुष्य के चेतन उद्देश्य हैं। कांट जीवशक्तिवाद (vitalism) का खण्डन करता है; या तो हमें आवयविकता (organism) की एकता के कारण की खोज छोड़ देनी चाहिए या फिर उसकी धारणा चेतन सत्ता के रूप में करनी चाहिए। प्रकृति के अध्ययन में अन्वेषक को निर्देशन देने में ही प्रयोजनवादी (teleological) प्रत्यय

का महत्व है; यह प्रत्यय मनुष्य को उस उद्देश्. को खोज सकने में सहायता देता है जिसकी पूर्ति में हरेक साधन और वस्तु के सूक्ष्मतर भाग लगे रहते हैं, वह उसको उन निमित्त कारणों या साधनों की खोज में भी सहायता देता है जिनसे साध्य या उद्देश्य की पूर्ति होती है। अतएव प्रकृति की प्रयोजनवादी (teleologial) व्याख्या बुद्धि की अपरिहार्य प्रवृत्ति है जो कुछ लौकिक रूपों के मनन् से जाग्रत होती है किन्तु काम चलाऊ कल्पना या निर्देशन सिद्धान्त होने के अलावा अनुभव में उसका कोई उचित प्रयोग नहीं होता।

बुद्धि और नैतिक ईश्वरवाद का व्यावहारिक उपयोग

हमारी बुद्धि को व्यवस्थित करने में प्रकृति का लक्ष्यात्मक उद्देश्य नैतिक है। बुद्धि की व्यावहारिक या काल्पनिक सारी रुचि तीन प्रश्नों पर केन्द्रित है: मैं क्या जान सकता हूँ? मुझे क्या करना चाहिए? मैं किस चीज की आशा कर सकता हूँ? वैज्ञानिक अर्थ में हमें ईश्वर की सत्ता, स्वतंत्रता और अमरता का ज्ञान नहीं हो सकता। इन समस्याओं में शुद्ध काल्पनिक रुचि बहुत कम है। यदि उन तीनों की सत्ता प्रमाणित भी हो जाय तो भी हमें उनसे प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में कोई खोज करने में सहायता नहीं मिलेगी। जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है उनका कोई उपयोग नहीं है, उनका यथार्थ महत्व व्यावहारिक या नैतिक है। बुद्धि नैतिक नियमों की अपेक्षा रखती है। नैतिक नियम अनिवार्य हैं। उनकी सत्ता मानने पर हम उनको पूर्वपक्ष मानकर अनिवार्य ढँग से सैद्धांतिक चिंतन कर सकते हैं। नियम मुझे इस तरह काम करने को लाचार करता है कि मैं सुख का अधिकारी हो जाऊँ, यह अनिवार्य व्यावहारिक नियम है। चूंकि बुद्धि इसका आदेश देती है इसलिए यह सैद्धान्तिक चिंतन की अनिवार्यता है कि मैं सुख की आशा करूँ। नैतिकता और सुख अपृथक रूप से सम्बन्धित हैं; किंतु उनका सम्बन्ध प्रत्यय में ही है। यदि प्राकृतिक व्यवस्था का रचयिता ईश्वर है तो इस बात की आशा करना कि यह प्राकृतिक व्यवस्था नैतिक व्यवस्था भी होगी संभव है और यह भी संभव है कि इस प्राकृतिक व्यवस्था में सुख नैतिकता का अनुगामी होगा। हमारी बुद्धि हमें अपने को नैतिक व्यवस्था का प्राणी समझने पर विवश करती है, जहाँ सुख और नैतिकता में समन्वय है। किंतु यह समन्वय हमें दृश्य जगत के अनुभव में नहीं मिलता, इसलिए हमें इस समन्वय की सत्ता के लिए भविष्य में मिलनेवाले जगत को मानना पड़ता है। अतएव ईश्वर और पुनर्जीवन ये दो ऐसी मान्यताएँ हैं जिन्हें शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्तों के अनुसार हम पर बुद्धि द्वारा आरोपित नैतिक नियम से पृथक नहीं किया जा सकता।

नैतिक ईश्वरवाद अपरिहार्य रूप से हमें एक निरवयव, पूर्ण और बौद्धिक

मौलिक सत्ता की धारणा की ओर ले जाता है। इस सत्ता को सर्वशक्तिमान होना चाहिए जिससे सारी प्रकृति और नैतिकता का सम्बन्ध उस सत्ता के अन्तर्गत हो; उसे सर्वज्ञ होना चाहिए जिससे वह नैतिक मूल्य रखनेवाली आन्तरिक प्रवृत्तियों को जान सके; उसे सर्वव्यापी होना चाहिए जिससे वह जगत के सर्वोच्च सत् की सारी आवश्यकताओं के समीप रहे; उसे शाश्वत होना चाहिए जिससे प्रकृति और स्वतंत्रता का यह सामञ्जस्य कभी न टूटे। जगत और हमारी कृतबुद्धि (practical reason) में सामञ्जस्य होने के लिए जगत की निष्पत्ति सर्वोच्च सत् के प्रत्यय से माननी चाहिए। सद्गुण और सुख का मेल हमारी कृतबुद्धि की माँग है। यदि हम जगत में नैतिक उद्देश्य और जगत के पीछे इस उद्देश्य की पूर्त्ति करने वाली नैतिक सत्ता को न मानें तो यह नहीं हो सकता। इस तरह काल्पनिक (speculative) बुद्धि और कृतबुद्धि में मेल होता है। और इसी तरह प्रकृति का अध्ययन एक प्रयोजनवादी (teleological) व्यवस्था का रूप ले लेता है और भौतिक-ईश्वरवाद बन जाता है। दूसरे शब्दों में हम नैतिक नियम द्वारा ईश्वर और प्रयोजनवाद (teleology) तक पहुँचते हैं।

अतएव शुद्ध बुद्धि अपने व्यावहारिक उपयोग या नैतिक बुद्धि की भाँति ज्ञान को हमारी सर्वोच्च व्यावहारिक रुचियों से सम्बन्धित करती है जिसको काल्पनिक चिंतन नहीं कर सकता। इस तरह वह उसको प्रदर्शनात्मक रूढ़ि न बनाकर अपने आवश्यक उद्देश्यों के लिए एक निरपेक्षतः अनिवार्य मान्यता बना देती है।

आचार शास्त्र

कांट के आचार दर्शन को प्रत्ययवाद और सुखवाद (hedonism), अन्तर्साक्ष्यवाद (Intuitionism) और अनुभववाद के झगड़े का बीच बचाव करने के निर्णय की चेष्टा समझा जा सकता है। उसकी मूलभूत समस्या सत् (goodness), उचित और अनुचित या कर्तव्य का अर्थ और हमारे नैतिक ज्ञान की विवक्षित बातों को खोजना है; हम कर्तव्य की परिभाषा क्या करेंगे और मनुष्य की नैतिक प्रकृति से क्या परिणाम निकालेगें ?

रूसो ने उसको सिखाया था कि सत्संकल्प के अतिरिक्त इस दुनियाँ में या उससे बाहर और कुछ भी सत् नहीं है। संकल्प तभी सत् होता है जब वह कर्तव्य भावना या नैतिकता के प्रति आदर से निर्धारित होता है। सहानुभूति या आत्मप्रेम आदि प्रवृत्तियों से किया गया काम नैतिक नहीं होता; इन प्रवृत्तियों के होते हुए भी यदि उसे नैतिक नियम के आदर के लिए किया जाय तो वह नैतिक होता है। किसी काम का सत् होना या बुरा होना उसके परिणामों पर निर्भर नहीं करता; जब तक कर्त्ता का उद्देश्य सत् है तब तक इसकी कोई

महत्ता नहीं है कि उस काम का परिणाम सुख होता है या पूर्णता। नियम का आदर ही सर्वोपरि कसौटी है। कांट उपयोगितावाद (utility-ethics) और "कर्तव्य के स्वयंसेवकों" की भावुक नैतिकता से अरुचि रखता था। नैतिक नियम 'निरपेक्ष आदेश' (Categorical Imperative) है; उसका आदेश निरपेक्ष है; वह यह नहीं कहता कि 'सुखी सफल या पूर्ण होने के लिए ऐसा करो' किंतु 'तुम्हें यह करना चाहिए क्योंकि यह तुम्हारा कर्तव्य है' (कर्तव्य कर्तव्य के लिए)। वह खास कामों या आम बातों से रिश्ता न रखकर एक मूल-भूत सिद्धान्त को स्थापित करता है : सदा इस तरह कर्म करो कि तुम अपने कर्म को निर्धारित करनेवाले सिद्धान्त को सार्वभौम नियम बनाने की इच्छा कर सको; इस तरह कर्म करो कि सब लोग तुम्हारे ही कर्म के सिद्धान्त का अनु-करण करें। यह नियम उचितानुचित की निश्चित कसौटी है। उदाहरणार्थ तुम यह नहीं चाहोगे कि सब लोग झूठे वादे दिया करें क्योंकि यदि सब लोग ऐसा करने लगेंगे तो कोई किसी पर विश्वास नहीं करेगा और इस तरह झूठे वादों की पराजय हो जाएगी। बौद्धिक प्राणी बाधित चीजों का संकल्प नहीं कर सकता और झूठे वादे चाहना एक बाधित बात है। बौद्धिक प्राणी दूसरों का अहित भी नहीं चाह सकता क्योंकि यदि इस तरह का आचरण सार्वभौम हो जाय तो कभी उसके साथ भी अमानुषिक व्यवहार होगा और वह कभी इस तरह के अमानुषिक समाज का सदस्य बनने का संकल्प नहीं कर सकता।

निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) बुद्धि में विवक्षित प्राग-नुभव सार्वभौम अनिवार्य नियम है। वह साधारण से साधारण व्यक्ति में भी रहता है, चाहे उसे इसका स्पष्ट बोध न हो किंतु यह उसके नैतिक निर्णयों का शासन करता है; यह उसके उचितानुचित की कसौटी है। इसी नियम में विवक्षित या उससे तादात्म्य रखनेवाला एक और नियम है : इस तरह कर्म करो कि, चाहे तुम्हारे शरीर में या किसी और के शरीर में, मानवता ही तुम्हारा साध्य हो साधन नहीं। हरेक व्यक्ति अपनी सत्ता को ही अपने आप में साध्य समझता है इसलिए उसे हर बौद्धिक सत्ता को वैसा ही समझना चाहिए। यहाँ हमें स्टोइकों (stoics) और ईसाइयों द्वारा बताया गया मानवतावादी (humanitarian) आदर्श मिलता है जिसकी अठारहवीं शती की नैतिक और राजनैतिक धारणाओं में बड़ी प्रधानता रही।

अतएव बौद्धिक संकल्प अपने ऊपर सबके द्वारा स्वीकृत और सब पर लागू होने वाले सार्वभौम नियमों का आरोप कर लेता है। यदि हरेक व्यक्ति बुद्धि के नियमों का पालन करे तो इसका फल होगा बौद्धिक प्राणियों का एक समाज, बौद्धिक उद्देश्यों से व्यवस्थित एक साध्यों (ends) की दुनियाँ। निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) में समाज की पूर्णता निहित है, उसमें

बौद्धिक क्षेत्र का आदर्श अनिवार्य रूप से विवक्षित है। इसलिए हरेक बौद्धिक प्राणी को अपने आपको साध्यों के सार्वभौम साम्राज्य का व्यवस्थापक सदस्य समझकर अपने सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करना चाहिए। वह राजा और प्रजा दोनों है। वही नियम बनाता है और वही उसका पालन करता है। अपनी नैतिक प्रकृति के कारण वह आध्यात्मिक साम्राज्य का प्राणी है; वह अपने ऊपर नियम की प्रभुता मानकर आदर्श जगत को सर्वोपरि सत् (good) मानता है।

जो मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों, स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से शासित न होकर नैतिक नियम से शासित होता है वह स्वतन्त्र है। पशु अपनी इच्छाओं और स्वभाव के हाथों की कठपुतली होता है। अपने अन्दर नैतिक नियम के ज्ञान से मनुष्य स्वार्थपूर्ण सुख पर ललचानेवाली अपनी ऐन्द्रिक इच्छाओं पर रोक लगा सकता है। और चूंकि वह अपनी ऐन्द्रिक प्रकृति पर नियंत्रण कर सकता है इसलिए वह स्वतंत्र है : चूंकि उसे ऐसा करना चाहिए इसलिए वह ऐसा कर सकता है। नैतिक आदेश मनुष्य की यथार्थ आत्मा की, उसकी सत्ता के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है। नैतिक नियम में मनुष्य की अंतरंग आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। नैतिक नियम उसका अपना आदेश है, वह हरेक बौद्धिक प्राणी का आदेश है। मनुष्य स्वयं अपने ऊपर नियम का आरोप करता है : यह उसकी स्वायत्तता (autonomy) है।

नैतिक आदेश की तथ्यता संकल्प की स्वतन्त्रता का संकेत करती है। हमारी नैतिक प्रकृति या व्यावहारिक बुद्धि के बिना संकल्प-स्वतंत्रता का प्रश्न व्यर्थ है। हमारा मामूली वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुओं के प्रतिभास से प्रसर-काल-क्रम से सरोकार रखता है और इसमें हर चीज अनिवार्य नियमों के अनुसार व्यवस्थित होती है : दृश्य जगत में होनेवाली हर घटना निर्धारित होती है जैसा कि हमने देखा है। यदि यह प्रसर-काल-कारण की व्यवस्था ही वास्तविक होती तो स्वतंत्रता असम्भव होती। किंतु कांट के अनुसार हमारी इन्द्रियों को प्रतीत होने वाला जगत वास्तविक जगत नहीं है। अतएव स्वतंत्रता संभव है। यदि नैतिक नियम हमें काल-प्रसर-रहित स्वतंत्र चेतन सत्ताओं के जगत का संकेत न करता तो हम यह कभी नहीं जान सकते कि स्वतंत्रता यथार्थ में है या नहीं। दूसरे शब्दों में मनुष्य की नैतिक चेतनता, उसका उचितानुचित का ज्ञान उसको उसकी इन्द्रियों को उपक्षिप्त पुद्‌गलमय जगत से भिन्न जगत का आभास देता है।

नैतिक चेतनता में संकल्प की स्वतंत्रता निहित है। उसमें आत्मा की अमरता और ईश्वर का अस्तित्व भी निहित है, यद्यपि "क्रीटीक आव् प्योर रीजन" इन धारणाओं को वैज्ञानिक प्रदर्शनात्मक रूढ़ियों की भाँति दलित करके

उनकी संभावना को ही मानता है। ईश्वर के अस्तित्व का नैतिक प्रमाण यह है : निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) एक निरपेक्ष, पवित्र और सद्‌गुणात्मक संकल्प का आदेश देता है। बुद्धि हमें यह बतलाती है कि ऐसा संकल्प सुखी होन का अधिकारी है : अच्छे मनुष्य को सुखी होना चाहिए; अतएव सद्‌गुण और सुख में ही सर्वोपरि सत् होना चाहिए क्योंकि सुख के बिना सद्‌गुण पूर्ण सत् नहीं होगा। किंतु इस जगत में सद्‌गुण और सुख एक साथ नहीं मिलते; सद्‌गुणी व्यक्ति को अक्सर सुख नहीं मिलता। बुद्धि यह कहती है कि कर्मों के अनुसार सुख देने के लिए किसी चीज का अस्तित्व होना चाहिए। ऐसा करने के लिए उस अस्तित्व को चेतन या सर्वज्ञ होना चाहिए : उसको हमें देखना चाहिए; उसमें हमारे नैतिक आदर्श होने चाहिए अर्थात् उसे पूर्ण सत् होना चाहिए; उसको सद्‌गुण और सुख में समन्वय करने की पूरी शक्ति होनी चाहिए अर्थात् उसे सर्वशक्तिमान् होना चाहिए। इस तरह का सर्वज्ञ, पूर्ण सत् और सर्वशक्तिमान् अस्तित्व ईश्वर है। अमरता की युक्ति भी इसी तरह दी गई है। नैतिक नियम पूर्ण सत्संकल्प की अपेक्षा करता है। बुद्धि का उत्सर्ग होने से नैतिक नियम का आदेश प्राप्त योग्य होना चाहिए। किंतु हम अपनी सत्ता के किसी क्षण मेंपवित्रता तक नहीं पहुँच सकते, अतएव इस पूर्णता की ओर एक अनन्त काल और उन्नति अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में आत्मा को अमर होना चाहिए।

"क्रीटीक आव् प्योर रीजन" में कांट ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की अमरता और संकल्प की स्वतन्त्रता के लिये दी गई पुरानी युक्तियों को अस्वीकार करता है; इस दिशा में "क्रीटीक आव् प्योर रीजन" का परिणाम निषेधात्मक है। "क्रीटीक आव् प्रैक्टिकल रीजन" में वह नैतिक नियम को इन सब धारणाओं का आधार बनाता है। मनुष्य स्वतंत्र है, वह अमर है, ईश्वर का अस्तित्व है : ये सब सत्य हमारे अन्दर बौद्धिक नैतिक नियम में अनिवार्य रूप से निहित हैं। नैतिक नियम स्वतंत्रता, अमरता और ईश्वर की पुष्टि करता है; धर्म का आधार नैतिकता है।

कांट स्वयं कहता है कि इन शिक्षाओं का ईसाई मत से बहुत घना रिश्ता है। (१) नैतिकता को पवित्रता, पूर्णता और पूर्ण सत्संकल्प की अपेक्षा है। (२) मनुष्य इस आदर्श को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर ही पूर्ण और पवित्र है; इच्छाओं के सबल होने से मनुष्य पाप की ओर प्रेरित होता है। वह यही कर सकता है कि कर्तव्य पालन करे और नियमों का आदर करे। (३) सर्वोपरि सत् आगामी जीवन में ही प्राप्त हो सकता है। (४) नैतिक नियम के अनुसार चलनेवाला व्यक्ति यानी पूरी तरह से नैतिक व्यक्ति का बहुत मूल्य होता है और वह सभी संभव सुखों का अधिकारी होता है।

(५) किंतु नैतिक नियम सुख का वादा नहीं करता; चाहे हमें सुख मिले या न मिले किंतु हमें उचित को इसलिए करना चाहिए कि वह उचित है। नैतिकता का पालन सुख की प्रत्याभूति नहीं करता। (६) हमारी बुद्धि कहती है कि नैतिक व्यक्ति सुखी होने के योग्य है। अतएव कर्मों के अनुसार सुख देनेवाले अस्तित्व को मानना न्यायसंगत है। ईश्वर के साम्राज्य में ऐसा ही होता है। किंतु सुख नैतिक आचरण का उद्देश्य कभी नहीं हो सकता। हमें कर्म उचित के लिए करना चाहिए शाश्वत सुख के लिए नहीं। इन्हीं कुछ सिद्धान्तों के कारण कांट को प्रोटेस्टैंटवाद (Protestantism) का दार्शनिक कहा जाता है।

—:o:—